भारती-गद्य-धारा

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

राजस्थान विश्वविद्यालय के

त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष के लिए स्वीकृत—

भारती-गद्य-धारा

पुष्प

सम्पादक

डॉ० मुन्शीराम शर्मा, एम. ए., पी-एच डी., डी. लिट्,
अध्यक्ष—हिन्दी-विभाग : डी. ए. वी. कॉलेज, कानपुर

प्रो० राधेश्याम त्रिपाठी, एम. ए., साहित्यरत्न,
हिन्दी-विभाग गवर्नमेन्ट कॉलेज, ब्यावर

: प्रकाशक :

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

आभार-प्रदर्शन

हम सङ्कलन में जिन जिन विद्वान लेखकों की रचनाएं हमने सग्रहीत की हैं, उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते है।

हम मानते हैं कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि मे योग देने वाले कुछ और भी ऐसे स्वनाम-धन्य लेखक हैं जिनकी रचनाओ के अध्ययन के बिना इस साहित्य का समग्र ज्ञानार्जन करना असम्भव है, पर कुछ तो कक्षा के स्तर तथा कुछ अध्ययन के निर्दिष्ट-काल ने हमे विवश किया है और इस कारण उन लेखकों की प्रतिनिधि रचनाएं इस सङ्कलन मे नही आ पाई हैं, हमें इस बात का क्षोभ अवश्य है।

फिर भी हम आशा करते हैं कि इसके द्वारा विद्यार्थी-वर्ग लाभान्वित ही होगा।

—सम्पादक

अनुक्रमणिका

निबन्ध कला

कहा जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में मानव का हृदय-पक्ष प्रबल था। कदाचित् इसीलिए साहित्य की गङ्गा काव्य के हिमालय से जन्म लेकर विकास की ओर गतिशील हुई। गद्यात्मक साहित्य का विकास तो बहुत काल बाद उस समय हुआ जब बौद्धिक विकास के कारण मानव-समाज अधिक समृद्ध, अधिक व्यवस्थित और अधिक सघन बना। मानव समाज का विकास पांच-सात दिन या पांच-सात वर्ष की बात नहीं है उसमें शताब्दियाँ ही नहीं हजारों वर्ष लग जाते हैं। कविता अपने प्रारम्भिक रूप में सहज, सरल तथा संवेदनीय होती है उसमें भावुक हृदय को एक अलौकिक आनन्द में डुबा देने की शक्ति होती है। इसमें भी बड़ी एक और बात यह है कि उसमें थोड़े से ही शब्दों में बहुत ज्यादा कह जाने की शक्ति होती है और उसको ज्यों का त्यों याद रखना भी सुगम होता है। गद्य में ये बातें उतनी अधिक मात्रा में नहीं होतीं। उसको याद रखना तो काफी कठिन होता है क्योंकि उसका आकार काफी बड़ा हो जाता है और उसमें संक्षिप्तता, भिन्नता, रूप-विन्यास तथा सर्वोहात्मकता का अभाव होता है। पद्य के लिए यान्त्रिक साधनों की आवश्यकता कम से कम रहती है जबकि साधनों के अभाव में गद्य के विकास का कार्य आगे बढ़ ही नहीं पाता है। संसार के साहित्य का इतिहास इसी तथ्य का साक्षी है। यही कारण है कि हिन्दी में गद्य का विकास बहुत विलम्ब से हुआ। हिन्दी में यह कार्य पुष्कल रूप से तब गतिमान हुआ जब पाश्चात्य देशों में गद्य का स्वरूप प्रायः निश्चित हो चुका था तथा

अनेक शैलियों में अभिव्यक्त होने लगा था। बात यह थी कि पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक प्रगति हमारे देश की अपेक्षा बहुत पहिले हुई। छापे की मशीन के आविष्कार ने उनके कार्य को सरल बना दिया। भारत में यह कार्य तब तक रुका रहा, जब तक कि यहाँ भी छापे की मशीन न आई। वैसे हिन्दी में गद्य-साहित्य अनेक रूपों में बिखरा हुआ उपलब्ध तो बहुत पहिले से होता ही है।

एक ओर प्राचीन रीति-परक व जीवन-कथात्मक कृतियाँ, सूत्र भाष्य तथा टीकाएँ हैं और दूसरी ओर शिलालेख, ताम्र-पत्र तथा राजाज्ञाएँ हैं जो गद्य के स्वरूप को व्यक्त कर जाते हैं। पर निबन्ध वस्तुतः अपने आधुनिक रूप में पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव से रूप निर्माण कर सका है। पाश्चात्य-साहित्य के अध्ययन से उसके लेखन की प्रेरणा हमारे साहित्यकारों को मिली और शीघ्र ही हिन्दी में भी अच्छे अच्छे निबन्ध लिखे जाने लगे। हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का जन्म देने का श्रेय भारतेन्दु-युग को है। उस युग के नए-नए मासिक और साप्ताहिक पत्रों ने निबन्ध-साहित्य की जो धारा बहाई, वह निरन्तर विकसित होती गई और आज हमारा निबन्ध साहित्य इस स्थिति में पहुँच गया है कि हम उसके बहुत से अंश पर गर्व कर सकते हैं।

बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के पहिले निबन्ध लेखक थे। उनके साथी लेखकों में प्रमुख थे प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी आदि। प्रारम्भिक काल के निबन्ध-लेखक होने के कारण इनके निबन्धों के विषय और उपादान सीमित थे। ये केवल सामाजिक, साहित्यिक तथा कुछ अन्य विषयों पर ही निबन्ध लिखते थे। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों के विषय थे—'ढोल के भीतर पोल', 'महानाट्यशाला', 'मुग्ध माधुरी', 'चन्द्रोदय', 'आँसू' आदि। प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों के विषय थे—'बुढ़ापा', 'भौं', 'होली' आदि।

'सरस्वती' मासिक के प्रकाशन के साथ हिन्दी के निबन्धों का विकास प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे हिन्दी के निबन्ध-लेखक सभी विषयों पर निबन्ध लिखने लगे। श्री माधव मिश्र ने 'होली', 'श्री पंचमी', 'रामलीला' 'व्यास पूजा' आदि हिन्दू पर्वों और त्योहारों के साथ-साथ 'द्वारका' 'मथुरा', 'अयोध्या' आदि तीर्थों पर लिखना प्रारम्भ किया तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोध, श्रद्धा, ग्लानि, करुणा, आदि मनोवैज्ञानिक एवं कविता क्या है, 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', आदि, साहित्यिक विषयों पर। इधर पूर्णसिंहजी ने 'सच्ची वीरता', 'पवित्रता', 'कन्यादान', 'मजदूरी और प्रेम' आदि विषयों पर कलम चलाई तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आकाश की निराधार स्थिति', 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', दिव्य दृष्टि', 'अन्ध लिपि', 'अद्‌भुत इन्द्रजाल' आदि विषयों पर। अब जो भी विषय सामने आ जाता था, उसी पर निबन्ध लिखा जाने लगा था।

इस प्रकार विषय की दृष्टि से एक व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करके साहित्यिक रूप और शैली की दृष्टि से भी हिन्दी का निबन्ध-साहित्य प्रगति की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा, इन दिनों केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़' साहित्यिक और व्यंजनापूर्ण ढङ्ग से लिखा हुआ एक उत्कृष्ट कोटि का निबन्ध निकला, वह इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसके अनुकरण पर अनेक निबन्ध लिखे गये। द्वितीय उत्थान-काल में निबन्धों में चरिताङ्कन प्रारम्भ हुआ और 'कविल्व', 'इत्यादि की आत्म-कहानी', 'दोषकदेव का आत्म चरित', 'राजकुमारी हिमाङ्गिनी' आदि निबन्ध लिखे गये। अभी कुछ समय पहिले स्वप्न सम्बन्धी निबन्ध भी काफी लिखे गये थे—जैसे, 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', 'राजा भोज का सपना' आदि। इन निबन्धों में वर्णनात्मकता अधिक थी, तो चरिताङ्कन सम्बन्धी निबन्धों में मानवीकरण और प्रतीकवाद। चरिताङ्कन सम्बन्धी निबन्धों में श्री चतुर्भुज औदिच्य का कवित्व नामक निबन्ध पहिला था।

यह उन्होंने बङ्कुता के इसी शीर्षक वाले एक निबन्ध के आधार पर लिखा था। इस निबन्ध का भी हिन्दी में पर्याप्त अनुकरण हुआ।

अब हिन्दी का गद्य-शैली का भी विकास हुआ जिसमें निबन्धों में प्रौढ़ता आने लगी और उनकी शक्ति का विकास होने लगा। इस समय निबन्धों में एक ओर उपदेशों और व्याख्याओं की शक्ति दिखाई देने लगी तो दूसरी ओर उनमें नाटकीय सम्भाषण का आनन्द भी आने लगा। माधव मिश्र का 'श्री पञ्चमी' और पूर्णसिंह का 'सच्ची वीरता' इसी प्रकार के निबन्ध थे।

आगे चलकर हिन्दी निबन्धों में एक और महत्वपूर्ण बात का समावेश होने लगा। यह थी निबन्धकार का व्यक्तित्व। अब तक हिन्दी के निबन्धकार मानो किसी स्वप्न का वर्णन करते थे किन्तु अब निबन्धकार अपनी बात भी कहने लगे—वे अपने भाव, रुचि, विचार और आदर्श की भी व्यञ्जना करने लगे। अब उनके निबन्धों में ऐसा लगने लगा जैसे वे अपने भाव कागज पर उडेलते जा रहे हैं, अपने आत्मचिन्तन अभिव्यक्त करते जा रहे हैं। पद्मसिंह शर्मा का 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' तथा गणेश शङ्कर विद्यार्थी का 'कर्मवीर प्रताप' इसी प्रकार के निबन्धों में से थे। इनमें लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता था।

इसके बाद, निबन्धों में कवित्व का भी समावेश होने लगा और कुछ ऐसे निबन्ध भी निकलने लगे जो कविताओं से स्पर्धा करते हुए प्रतीत होने लगे। इनके भाव, उपादान, शैली सब कुछ कवित्वपूर्ण थे, इन्हीं निबन्धों का विकास धीरे-धीरे गद्य-गीत के रूप में हो गया। इस प्रकार के निबन्धों में गीत-काव्य की कला का अनुसरण मिलता है।

इनके चित्र-विधान, नाद-ध्वनि और लय इन तीनों के सम्मिलन से काव्य का सा आनन्द आ जाता है। रायकृष्णदास की 'साधना' इसी प्रकार के गद्य-गीत का संग्रह है। वियोगी हरि ने भी इसी शैली पर काफी गद्य-गीत लिखे हैं। गद्य-गीत की यह शैली कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजली के प्रभाव का परिणाम थी।

वर्तमान युग निबन्धों के उत्थान का युग है। इस युग में निबन्ध साहित्य ने काफी प्रगति की है। अब हिन्दी निबन्धों में हृदय-पक्ष के साथ साथ बुद्धि-पक्ष का भी सुन्दर समन्वय दिखाई देने लगा है। एक और बात यह है कि अब निबन्धों के विषय और शैली में अनेकरूपता परिलक्षित होने लगी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, जयशंकर प्रसाद, वियोगी हरि, गुलाबराय, गोरेन्द्र वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रायकृष्णदास, महादेवी वर्मा, विनय-मोहन शर्मा, सत्येन्द्र, बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, महाराजकुमार रघुवीरसिंह, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, पन्नालाल पदुमलाल बख्शी, इलाचन्द्र जोशी, परशुराम चतुर्वेदी, नगेन्द्र, जैनेन्द्र कुमार आदि इस युग के अच्छे निबन्धकार हैं।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में मानसिक विश्लेषण उच्चकोटि का है। शैली पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। कसी हुई भाषा में उन्होंने जो सिमिट भाव प्रकट किये हैं वे हिन्दी साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। क्या मर्म के चुटीलेपन की दृष्टि से और क्या मनोवृत्तियों के विश्लेषण की दृष्टि से तथा क्या चिन्तन की नवीनता की दृष्टि से और क्या तर्कपूर्ण प्रतिमान शैली की दृष्टि से सभी प्रकार से उनके निबन्ध उच्चकोटि के हैं। 'प्रसाद' की शैली में यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाहुल्य है तथापि वह प्रवाहपूर्ण है। भावों की उच्चता तो

उनकी अपनी ही है। वियोगी हरि के निबन्धों में हृदय का राग और भावों की सरलता होती है। गुलाबराय के निबन्धों में शैली का उठान बड़ा कलापूर्ण होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक और विचारात्मक होते हैं। उनमें मानसिक-तत्व की प्रधानता रहती है। श्रीमती महादेवी वर्मा के निबन्धों पर अनुभूति और कलात्मकता की गहरी छाप होती है। उनकी भाषा भी सरल और प्रवाहपूर्ण होती है। श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के निबन्धों में अध्ययन की सामग्री होती है। उसके निबन्ध गहरे अध्ययन और चिन्तन के परिणाम होते हैं। जैनेन्द्रकुमार की भाषा तो स्वाभाविक होती है किन्तु उनका विषय-चिंतन तथा प्रतिपादन बड़ा गम्भीर होता है। उनमें हृदय का रस और विचारों की द्वन्द्वात्मक तरंगें होती हैं। इस प्रकार हिन्दी का निबन्ध साहित्य धीरे धीरे प्रगति की ओर बढ़ता जा रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी अब तक की उपलब्धियाँ उज्ज्वल भविष्य की परिचायक हैं।

प्राचीन आचार्यों ने गद्य को कवियों की कसौटी कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है, क्योंकि निबन्ध में ही गद्य का निजी रूप देखने को मिलता है। यद्यपि कहानी, उपन्यास, नाटक और समालोचना भी गद्य में ही लिखे जाते हैं तथापि उनमें गद्य केवल भाषा का माध्यम होता है। यह अपनी पूरी सजधज के साथ तो निबन्ध में ही प्रकट होता है। हिन्दी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी के 'एसे' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है प्रयत्न। प्रारम्भ में अंग्रेजी निबन्ध एक कल्पनाशील मन के विचारमात्र होते थे, लेकिन जैसे जैसे समय बीता निबन्ध में श्रृंखलाबद्धता और बुद्धि-तत्व की प्रधानता होती गई। इधर हिन्दी में निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बन्धा हुआ'। आधुनिक निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आकार में छोटा होता है। उसमें एक भी शब्द अनावश्यक नहीं होता है। अत यह 'बंधा हुआ' या

चुस्त होना उसकी एक सबसे बड़ी विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि उसमे लेखक का व्यक्तित्व झलकता रहता है। लेखक के विचारो मे अपनी स्वयं की प्रेरणा होती है और अपना स्वयं का दृष्टिकोण। यद्यपि निबन्ध का आकार छोटा होता है और इस कारण उसमे विचारो के पूर्ण प्रतिपादन की आशा नही की जा सकती, तथापि गीति-काव्य की तरह उसमे निजीपन और पूर्णता होती है। उसमे लेखक के दृष्टिकोण की एक झाँकी होती है। वह साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक है। श्री गुलाबराय के शब्दो मे—"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति एव सम्बद्धता के साथ किया गया हो।" निबन्ध के विषयो की कोई सीमा नहीं होती। चीटी से लेकर हाथी और हाथी से लेकर आकाश कुसुम तक सब निबन्ध के विषय बन सकते हैं। निबन्ध लेखक की कला इसी मे होती है कि वह किसी भी विषय या वस्तु की ओर आकर्षित होकर उसे आकर्षक एवं रुचिकर बना दे। अत निबन्ध मे विषय के साथ शैली का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है।

यद्यपि सारे निबन्ध का रूप एक ही होती है तथापि वह आदि, मध्य और अन्त नामक तीन भागो मे बँटा रहता है। उसका प्रारम्भ जितना आकर्षक और सुन्दर होता है उतना ही वह पाठको की उत्सुकता जाग्रत करने मे सफल होता है। आरम्भ के सम्बन्ध मे एक और महत्व की बात यह है कि वहाँ पाठक को इस बात की झलक मिल जानी चाहिए कि निबन्ध मे मौलिक ढङ्ग से लिखी हुई मनोरजन और विचारपूर्ण सामग्री पढने को मिलेगी। प्रारम्भिक भाग मे पाठक को विषय की सक्षिप्त व्याख्या मिल जानी चाहिये ताकि उसके लिए उस दिशा मे बढना सुगम हो जाय।

निबन्ध का मध्य भाग अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। उसमें लेखक के अपने तर्क होते हैं—वह एक-एक करके उन्हें क्रमपूर्वक पाठक के सामने रखता है और उन्हें ऐसा मोड़ देता है कि वे सब एक ही दिशा की ओर संकेत करते जावें। यदि लेखक इस मध्य भाग को सँवारने में सफलता प्राप्त कर ले तो अन्त अपने आप ठीक हो जाता है। अन्त के भाग में यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि निबन्ध का अन्त अनायास न हो जाय। वह इस प्रकार समाप्त हो कि समाप्त हो जाने पर भी उसके भाव पाठकों के मस्तिष्क में गूँजते रहें।

ऊपर कहा जा चुका है कि निबन्ध का क्षेत्र बड़ा विशाल होता है। अतः, इस विशालता के कारण उसके भेद भी अनेक किये जा सकते हैं। फिर भी सुविधा की दृष्टि से उसके चार मुख्य भेद हैं —

वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक और भावात्मक।

वर्णनात्मक निबन्ध —इस प्रकार के निबन्ध पाठक के सामने या तो किसी विषय, वस्तु या व्यापार का चित्र उपस्थित करते हैं अथवा उनके प्रति भय, आनन्द, करुणा आदि की भावना जाग्रत करते हैं। ऐसे निबन्धों में लेखक अपने विषय की एक व्यापक रूपरेखा बनाकर उसके अनुसार प्रत्येक भाग का वर्णन विस्तार के साथ करता है। अपने इस वर्णन में वह प्रधान अङ्गों पर अधिक और अप्रधान अङ्गों पर कम जोर देता है। अपने वर्ण्य विषय का अधिक व्यापक रूप प्रस्तुत करने के लिये वह कभी-कभी भिन्न दृष्टि-कोणों से भी वर्णन करता है, उपयुक्त स्थान पर अन्य लेखकों और कवियों का उद्धरण देकर लेखक अपने वर्णन और शैली को रोचक, आकर्षक और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करता है। वर्णनात्मक निबन्धों की भाषा विषय के अनुसार बदलती रहती है। शोभा और सौन्दर्य के लिए संस्कृत की कोमलकान्त पदावली उपयुक्त रहती है तो करुण दृश्य के वर्णन के लिए वेदना प्रकट करने वाली सरल शब्दावली।

विवरणात्मक—इस प्रकार के निबन्ध का प्रसार किसी घटना या वृत्तान्त को लेकर किया जाता है। इसमें कभी युद्ध या दुर्घटना का वर्णन होता है तो कभी यात्रा, मेले या सम्मेलन का। कभी किसी महापुरुष का जीवन वृत्तान्त दिया जाता है, तो कभी किसी कथा का। विवरणात्मक निबन्धों में विषय वस्तु या व्यापार के गंभीर अंग-उपाङ्गों का सविस्तार एवं यथातथ्य वर्णन रहता है। इसमें काल-क्रम के अनुसार घटनाओं का सजीव वर्णन किया जाता है और फिर उनका उत्पत्ति, विकास विस्तृत किया जाता है। घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करने में उनके कारणों का स्पष्ट रूप से विचार किया जाता है और घटनाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित करके उनका फल निकाला जाता है। अन्त में यदि आवश्यकता हुई तो वर्णित घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों का चरित्र चित्रण भी आलोचनात्मक ढंग से किया जाता है। इस प्रकार के निबंध में लेखक दर्शक के साथ साथ आलोचक का काम भी करता है।

विचारात्मक निबंध—इस प्रकार के निबन्धों में प्रायः अमूर्त विषयों पर विचार किये जाते हैं। इनके अन्तर्गत प्रेम, उत्साह, वीरता, आशा, निराशा, क्रोध, चिंता, सौंदर्य, अहिंसा, सत्य, त्याग, बेकारी की समस्या, शिक्षा, परोपकार और देशप्रेम जैसे विषय आते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में इन विषयों पर बुद्धि-संगत विचार करके उनके गुण-दोषों का गम्भीर विवेचन किया जाता है। वस्तुतः हमारा समाज जिन मूल तत्वों पर टिका हुआ है लेखक उन्हें बारीकी से देखकर उनका रहस्य अथवा उनके सम्बन्ध में अपना अनुभव व चिंतन अपने पाठकों के सामने रखता है। इस प्रकार के निबंधों में लेखक का प्रयत्न यही रहता है कि वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में उसका अपना मत ही पाठकों का मत भी बन जाय। उसे पाठक को क्रमशः अपनी विचारधारा पर लाना होता है और विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये भावों की स्पष्टता का ध्यान रखना होता है। लेखक को शब्दों का प्रयोग नाप-तोल कर करना

होता है और भाषा को परिष्कृत एवं प्रवाहपूर्ण बनाना होता है। आलोचनात्मक निबंध इसी विभेद के अन्तर्गत आते हैं।

भावात्मक निबन्ध.—इस प्रकार के निबन्धों में रस और भावों की व्यंजना का प्रमुख स्थान रहता है। भावावेश में आकर लेखक अपने आह्लाद, प्रेम, क्रोध, घृणा, हर्ष, विषाद, विस्मय अथवा इस प्रकार के अन्य किसी भाव की व्यंजना इतनी तीव्रता से कहना चाहता है कि पाठक भी उसके प्रवाह में बह जाय। ऐसे निबन्धों में लेखक अत्युक्ति या अतिशयोक्ति की भी सहायता लेता रहता है ताकि भावों को तीव्रता-पूर्वक व्यक्त कर सके। गद्य-काव्य इस प्रकार के निबन्धों के अधिक निकट रहते हैं।

सारांश यह है कि वर्णनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध अधिकतर देश से होता है उसमें विषय या वस्तु को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है। विवरणात्मक निबन्ध का सम्बन्ध काल से होता है और वस्तु को गतिशील रूप में देखा जाता है। विचारात्मक निबन्धों में तर्क की प्रधानता होती है तो भावात्मक निबन्धों में भावना की। एक में बुद्धि-तत्व की प्रधानता रहती है, तो दूसरे में हृदय तत्व की।

—सम्पादक

आशा

हमारे यहाँ के ग्रथकारो ने 'काम' को मनसिज कहा है। यदि मनसिज शब्द का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि 'मन मे उत्पन्न हुए भाव', तो हमारी समझ मे 'आशा' से बढकर मीठा फल देने वाली हृदय की विविध दशाओं मे से दूसरी कोई दशा नही हो सकती। यद्यपि हमारे यहाँ कवियो ने 'स्मर' की दस दशा मानी हैं, किन्तु उस रास्ते को छोड मोटे ढग पर ध्यान दे और मान ले कि 'काम' या तो उस पशु-बुद्धि रूपी मोहान्धकार का नाम है, जो मनुष्य के लज्जा, नम्रता आदि गुणो की मीठी रोशनी का नाश कर देता है, और जो इस दशा में मनुष्य-जाति का कलक है, अथवा ससार के सब सम्भव और असम्भव प्रेम-मात्र का नमूना है, तब भी हम यह नही कह सकते कि इन ऊपर लिखे हुए काम के दो रूपो के पाश मे उतने लोग फँसे हो, जितने स्वेच्छया आनन्द-पूर्वक अपने को आशा के पाश मे बाँधे हुए हैं। 'काम' एक रोग है, जिससे चाहे थोडा-सा सुख भी मिलता हो, पर उस रोग के रोगी इसकी दवा अन्यत्र ही ढूँढते हैं। पर आशा को देखिए तो वह स्वय एक ऐसे बडे भारी रोग की दवा है, जिसकी दूसरी दवा सोचना असम्भव है। यह रोग नैराश्य है,

जिससे दारुणतर क्लेश की दशा मनुष्य के चित्त के लिए हो नही सकती। इस वास्ते जो हमारे यहाँ की कहावत है कि--

"आशाहि परम दुःख नैराश्य परम सुखम्।"

यह हमारी समझ मे नही आता। यदि वर्ष के भिन्न-भिन्न ऋतुओं की तरह मनुष्य के हृदय मे भी तरह-तरह की दशाओं का दौरा हुआ करता है और उसमे भी ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर इत्यादि ऋतु एक दूसरे के बाद आते है, तो यही कहना पड़ेगा कि नैराश्य के विकट शीतकाल की रात्रि बाद आशा ही रूपी ऋतुराज के सूर्य का उदय होता है। हृदय यदि प्रमोद उद्यान है, तो उसका पूर्ण सुख आशा ही रूपी वसन्तऋतु मे होता है।

क्या ईश्वर की महिमा इसमे नही देखी जाती कि दुखी से दुखी जनो का सर्वस्व चला जाने पर भी आशा से उनका साथ नही छूटता। यदि मान और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी चीज है--जिसको उसके भक्त धन के चले जाने पर भी अपने गाँठ मे बाँधे रहते है--तो सोचना चाहिए कि वह इतनी प्रिय वस्तु होगी, जो दैवात् प्रतिष्ठा भंग होने पर भी मनुष्य के हृदय को ढाढ़स और आराम देती है। आशा को यदि मनुष्य के जीवन-रूपी नौका का लगर कहे, तो ठीक होगा क्योकि जैसे बड़े से बड़े तूफान मे जहाज लगर के सहारे स्थिर और सुरक्षित रहता है, वैसे ही मनुष्य भी अपने जीवन मे घोर विपदाओ को झेलता हुआ आशा के सहारे स्थिर और

निश्चलमना बनाता है। मनुष्य के जीवन में कितना ही बड़ा-से-बड़ा काम क्यो न हो, उसके करने की शक्ति का उद्भव या प्रसव-भूमि यदि इस आशा ही को कहे, तो कुछ अनुचित न होगा, क्योंकि किसी बड़े काम मे आशा से बढकर बुद्धिमत्ता की अनुमति देने वाला और कौन मन्त्री होगा ? मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को बुद्धिमानो ने विविध भावनाओ के अभिनय की केवल रग-भूमि माना है। परदे के पीछे से धीरे-धीरे वह शब्द बतला देने वाला जिससे हम चाहे जो पात्र बने हो और चाहे जिस रस के नाटक का अभिनय अपने चरित्र द्वारा करते हो, उसमे दृढता-पूर्वक लगे रहते हैं, इस आशा के अतिरिक्त दूसरा और कौन उत्तेजक (Prompter) है ? और भी यदि ससार को भिन्न-भिन्न कलह की रण-भूमि माने, तो उस अपरिहार्य रण-भूमि मे घायलो के घाव पर मरहम रखने वाला जर्राह आशा ही को कहना चाहिए।

जिस किसी ने ससार में आकर किसी बात का यत्न न किया हो और किसी वस्तु को खोज मे अपने को न डाल दिया हो, उससे बढकर व्यर्थ और नीरस जीवन किसका होगा ? जब यह बात है, तो बतलाइये, किसी प्रकार के प्रयत्नमात्र की जान आशा को छोड किसी दूसरे को कह सकते है ? क्योकि कैसे सम्भव है कि मनुष्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न मे लगा हो और आशा से उसका हृदय शून्य हो ? किसी काम के अभिलषित परिणाम मे अमृत का गुण देना यह

शक्ति सिवा आशा के और किसमे है ? ससार में जो कुछ भलाई हुई है या होगी, उस सबका मूल सदा प्रयत्न है और इस प्रयत्न की जान आशा है।

क्या झूठी आशा से भी किसी को कुछ दुख हो सकता है ? क्या झूठी आशा से नैराश्य अच्छा है ? नही, नही, सच पूछिए, तो ऐसी कोई वस्तु ससार मे है ही नही जिससे नैराश्य अच्छा हो, बल्कि नैराश्य से बढकर बुरी दशा मन के वास्ते कोई है ही नही। यदि आशा केवल मृग-तृष्णा ही है तब भी वह ना-उम्मेदी से अच्छी है। इस आशा-रूपी प्रबल वायु से हृदय-रूपी सागर में जो दूर तक तरगे उठती हैं, उन तरगो की अवधि नजर मे नही आ सकती। ससार मात्र इस आशा की रस्सी से बधा हुआ है। इसे हम कई तरह सिद्ध कर चुके हैं।

अब आगे चलिए, स्वर्ग या बैकुण्ठ क्या है ? मनुष्य के हृदय मे भाँति-भाँति की लालसा और आकाक्षा का केवल साक्षी-मात्र। वास्तव मे स्वर्ग है या नही, इसका तर्क-वितर्क इस समय हम यहाँ नही करते। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्वर्ग शब्द की सत्ता ही मनुष्य के लिये प्रबल आशा का प्रमाण है, क्योकि जब इस बात को सोच कर चित्त दुखी होता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा ठीक न्याय चाहिए, वैसा इस ससार में नही देखते, तो उसी चित के लिये स्वर्ग के सुखो के द्वारा समझाने वाली आशा को छोड और दूसरा

कौन गुरु है ? आशा ही एक हमारा ऐसा सच्चा सुहृद् है, जो लडकपन से अन्त-काल तक साथ देता है और आशा ही के द्वारा उत्पन्न वे भाव है, जो हमको मरने के बाद की दशा के बारे मे भी सोचने को रुजू करते है।

हमको कुछ ऐसा मालूम होता है कि बचपने मे आशा की दृढता चाहना ही मनुष्य के हृदय की प्राकृतिक दशा है। ध्यान देकर सोचिए तो नैराश्य की अवस्था मनुष्य के जीवन में केवल क्षणिक है। नैराश्य के भाव मन मे उदय होते ही चट आशा का अवलम्बन मिल जाता है। कितने थोडे समय के लिये आदमी नैराश्य को जी मे जगह देता है, कितनी जल्द फिर उसको निकाल कर बाहर फेंक देता है। सिर्फ यही बात इसका पक्का प्रमाण है कि प्राकृतिक हित मनुष्य का आशा ही मे है। आशा ही वह पुष्टई है जिसे खाकर आप जो चाहे वह काम करिये, शिथिलता और आलस्य आपके पास न फटकने पावेगा, क्योंकि यह असम्भव है कि आशा मन मे हो, फिर भी मनुष्य सिर नीचा किए हुए रज मे बैठा रहे। आशा की उत्तेजना यदि मन मे भरी है तो ऐसी कातर दशा आने ही न पावेगी। इससे यदि आशा ही को आदमी की जिन्दगी का बडा भारी फर्ज माने, तो कुछ अनुचित नही है क्योंकि हम देखते हैं कि आशा ही के विद्यमान रहने पर हम अपने सब फर्जो को पूरी-पूरी तरह से अदा कर सकते हैं। पर इसी के साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि

सामान्य आशा को अपने जीवन की दृढता के लिये अपना साथी रखना और बात है, पर किसी एक बात की प्राप्ति की आशा पर अपने जीवन-मात्र के सुख को निर्भर मानना दूसरी बात है। पहले रास्ते पर चलने से चाहे जीवन मे हमें सुख का सामना हो या दुःख का, हम दोनो मे एक-सा दृढ हैं, किन्तु दूसरे रास्ते पर चलने में यह चूक होगी कि हमने जिस आशा पर अपना बिलकुल सुख छोड रखा है, वह आशा यदि टूट गई, तो हमारी ही हानि है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ईश्वर ने अनन्त ऐसे रास्ते मनुष्य की प्रकृति को दृढ, सहनशील और विमल करने के खोले हैं, उन रास्तो में आशा ही पर चलकर मनुष्य शनैः शनैः अपना कार्य सिद्ध करता है। इस कारण मनुष्य को अपनी भलाई के लिये आशा से बढकर और क्या हो सकता है और मित्रगणो को भी यदि आवश्यकता हो तो आशा से बढकर और कौन भेंट दी जाती है? यदि अन्तकाल में चिकित्सक आशा ही के द्वारा रोगी को प्राणदान तक कर सकता है, तो इससे बढकर गुण आप किस चीज़ मे पाइएगा। साराश यह कि इस ससार मे अपनी और दूसरे की भलाई का परम आधार आशा ही है, और परलोक तो, हमने जैसा ऊपर कहा, आशा का रूप ही है। अस्तु, हम भी यही आशा करते हैं कि यह लेख आप लोगो को कुछ-न-कुछ रोचक हुआ होगा।

—बालकृष्ण भट्ट

२

आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सन्ध्या फुर्ती के साथ के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था, बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे, नागपुरी नारंगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का बेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अंधेरा छाया, बून्द गिरने लगी, साथ ही तड़-तड़ होने लगी, देखा, ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बम-भोला कह कर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े-लाट मिन्टो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे-लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूंदें गिरती थीं, और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द मे निमग्न रहे। अचानक धड-धड तड-तड के शब्द ने कानो मे प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंको से किवाड पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे की टीनो पर तड-तड के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोको ने दस बीस बूँदों और दो-चार ओलो से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अन्दर भी ओलो की एक बौछार पहुँची। फुर्ती से किवाड बन्द किये। तथापि एक शीशा चूर हुआ। इतने मे टन-टन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टीन और ओलो के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आँख और हाथ-पाँव सुख मे थे, पर विचार के घोडे को विश्राम न था। वह ओलो की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दो की तरह इधर-उधर उड रहा था। गुलाबी नशे मे विचारो का तार बँधा कि बडे-लाट फुर्ती से अपनी कोठी मे घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने घरो मे चले गये होगे, पर वह चील कहाँ गई होगी ? हा, शिवशम्भु को इन पक्षियो की चिन्ता है, पर यह नही जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर मे सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपडी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएँ शून्य पडी हैं।

आन की आन मे विचार बदला, नशा उडा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत ! तेरी वर्तमान दशा मे हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ? प्यारी भग ! तेरी कृपा से कभी कुछ काल के लिये चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नही तो अधबूढा भगड क्या सुख का भूखा है ? घावो से चूर जैसे नीद मे पडकर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न मे अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी वैसे ही सभी अपने कष्टो को भूल जाता है।

चित्त स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है, जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बडा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी इससे भी घोर अधेरी भादो कृष्णा अष्टमी की अर्द्ध रात्रि, चारो ओर घोर अधकार, वर्षा होती थी, बिजली कौदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरगो मे बह रही थी ऐसे समय मे एक दृढ पुरुष एक सद्य जात शिशु को गोद मे लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था वह और कोई नही थे, यदुवशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, माँ-बाप की आँखो का तारा हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके

विरुद्ध हुआ, पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ। और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। यह कारागार भारत-सन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

"बर ज़मीने की निशाने कफ़ेपाये तो बुवद।
सालहा सिजदये साहिब नज़रां ख्वाहबूद॥"
तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

—बालमुकुन्द गुप्त

३

रामायण

काव्यो के दो बडे भाग किये जा सकते हैं। एक वह जिसमे केवल कवि ही की कथा हो, और दूसरा वह जिसका सर्व-साधारण या एक बडे सम्प्रदाय की कथा से सम्बन्ध हो। पहिली श्रेणी के काव्यो का यह मतलब नही, जिन्हे सिवा कवि के और कोई समझ ही न सके, क्योकि यदि ऐसा हो तो वे केवल एक पागल की वकवास-मात्र समझे जायेगे। ऐसे काव्यो से उन काव्यो का मतलब है जिनमे कवि ने अपनी प्रतिभा के बल से निज के सुख-दुख, निज की कल्पना और निज ही के जीवन के अनुभवो द्वारा सारे मनुष्य-सम्प्रदाय के चिरन्तन हृदय-विकारो और हृदय के गुप्त रहस्यो को प्रकट किया हो। दूसरी श्रेणी के काव्य उन कवियो द्वारा रचे जाते हैं जो अपनी रचनाओ द्वारा समग्र देश अथवा समग्र युग के भावो और अनुभवो के प्रकट करके अपने ग्रन्थों को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। इसी प्रकार के कवियो को महाकवि कहना चाहिये। देश भर, अथवा जाति भर उन्ही के द्वारा बोलती हुई मालूम पडती है। ऐसे महाकवियो की रचना किसी व्यक्ति विशेष की रचना के

समान नही होती । उनकी रचना वन के वृहद् वृक्ष के सदृश होती है, जो अपने जन्म-स्थान की भूमि को अपनी सुविस्तृत छाया का आश्रय देता है । इसमें सन्देह नही कि शकुन्तला और कुमार-सम्भव मे कालिदास की निपुणता का अच्छा परिचय मिलता है, परन्तु भारतवर्ष के लिये रामायण और महाभारत पुनीत जाह्नवी और गिरि-राज हिमालय के सदृश हैं । व्यास और वाल्मीकि तो केवल उपलक्ष-मात्र हैं ।

वास्तव में व्यास और वाल्मीकि किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नही । ये नाम तो केवल किसी उद्देश्य से रख लिये गये हैं। इन दो बड़े ग्रन्थो के—इन दो महाकाव्य के—जो भारतवर्ष मे इतने मान्य हैं रचयिताओ के नाम का पता नही, कवि अपने ही काव्यो मे बिलकुल छिप से गये हैं ।

हमारे देश मे रामायण और महाभारत जिस प्रकार के ग्रंथ हैं, प्राचीन ग्रीस मे उसी प्रकार का ग्रंथ इलियड था । समस्त ग्रीस मे उसका आदर और प्रवेश था । कवि होमर ने अपने देश और काल के कंठ मे अपनी भाषा-दान की थी । उस के वाक्य उसके देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गूंज उठे और चिरकाल तक गूंजते रहे ।

किसी आधुनिक काव्य मे इतनी व्यापकता नही पाई जाती । मिल्टन के 'पेराडाइज लॉस्ट' नामक ग्रन्थ मे भाषा का उत्कर्ष, प्रयुक्त छन्दो का गाम्भीर्य और रस की गम्भीरता की कमी नही,

तो भी वह सारे देश का धन नही। वह तो पुस्तकालयो के ग्रादर की सामग्री-मात्र है।

ग्रतएव प्राचीन काव्यों को एक पृथक श्रेणी मे रखना चाहिये। प्राचीन काल मे वे देवताग्रो ग्रौर दैत्यो की तरह विशालकाय थे, परन्तु वर्तमान समय मे उस श्रेणी के काव्य लुप्त होगये हैं।

प्राचीन ग्रार्य सभ्यता की एक धारा योरप को गई, दूसरी भारत को ग्राई। इन धाराग्रो से योरप ग्रौर भारत दोनो स्थानो मे दो-दो महाकाव्यो की उत्पत्ति हुई। इन्ही महाकाव्यो के द्वारा उन दोनो धाराग्रों की सभ्यता के इतिहास ग्रौर सगीत की रक्षा होती रही है।

मैं विदेशी ठहरा, इसलिये ग्रीस के विषय मे मैं यह निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि उसने ग्रपने दोनो महाकाव्यो द्वारा ग्रपनी सारी प्रकृति को प्रकट करने मे सफलता प्राप्त की है या नही, परन्तु यह निश्चय है कि भारतवर्ष ने रामायण ग्रौर महाभारत मे कुछ बाकी नही रक्खा।

इसी कारण शताब्दियो पर शताब्दियां व्यतीत हो जाने पर भी भारत मे रामायण ग्रौर महाभारत का वैसा ही प्रचार है। उनका सोता जरा भी शुष्क नही हुग्रा। प्रतिदिन घर-घर में, गाँव-गाँव मे उनका पाठ होता है। बनिये की दुकान मे ग्रौर राजा के महल मे—सब जगह—उनका समान ग्रादर है। धन्य हैं वे दोनो महाकवि! उनके नाम तो काल के महा-प्रशस्त विस्तार में

लुप्त हो गये, किन्तु उनकी वाणी आज तक करोडो नर-नारियों के मनो मे भक्ति और शांति की ऐसी प्रबल लहरो को उत्थित करती है, जो हजारो वर्ष की उत्तमोत्तम मिट्टी लाकर आधुनिक भारत के हृदय को उर्वरा करती है।

इसलिये रामायण और महाभारत को केवल महाकाव्य न कहना चाहिये। ये इतिहास भी हैं। वे किसी समय अथवा घटना-विशेष का इतिहास नही। वे भारतवर्ष के चिरकाल का इतिहास हैं। अन्य इतिहासो मे समय-समय पर परिवर्तन होता है, परन्तु इन इतिहासो मे कोई परिवर्तन नही हुआ। भारतवर्ष की सारी साधना, आराधना, और कल्पना का इतिहास इन दोनो महाकाव्य रूपी प्रासादो के चिरकालरूपी सिंहासन पर विराजमान है।

इसलिये रामायण और महाभारत की समालोचना का आदर्श अन्य काव्यो की समालोचना के आदर्श से भिन्न होना चाहिये। राम का चरित्र उच्च था या नीच और लक्ष्मण का चरित्र भला लगता है या नही—केवल इतनी आलोचना यथेष्ट नही है। *समालोचक को श्रद्धापूर्वक इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि समस्त भारतवर्ष सहस्रों वर्ष से इन महाकाव्यो को किस दृष्टि से देखता आता है।*

यहाँ पर हमें इस बात पर विचार करना है कि यह कौन-सा सन्देश है जो रामायण द्वारा भारतवर्ष को प्राप्त होता है और वह कौन-सा आदर्श है, जो रामायण भारतवर्ष

के आगे रखती है। साधारणत लोगो ने समझ रक्खा है कि वीर-रस प्रधान काव्यो का ही नाम 'एपिक' है। इसका कारण यह है कि जिस देश और जिस काल मे वीर-रस का गौरव प्रधान रहा हो, उस देश और उस काल के महाकाव्य भी अवश्य ही वीर-रस से पूर्ण होगे। रामायण मे यथेष्ट मार-काट का वर्णन है। राम मे भी असाधारण बल था, किन्तु तो भी रामायण मे जो रस प्रधान है, वह वीर-रस नही। रामायण मे शारीरिक-बल-प्राधान्य प्रकट नही किया गया, युद्ध की घटनाओ का ही वर्णन करना उसका मुख्य विषय नही।

यह भी सच नही कि इस महाकाव्य मे केवल किसी देवता की अवतार-लीलाओ का वर्णन है। कवि वाल्मीकि ने राम को अवतार नही माना, उन्होने राम को मनुष्य ही माना है। हम यहाँ सक्षेप मे कह देना चाहते हैं कि यदि कवि ने रामायण मे नर-चरित्र के बदले देव-चरित्र का वर्णन किया होता तो रामायण के गौरव का बहुत कुछ ह्रास हो जाता। राम-चरित्र इसलिये महिमान्वित है कि यह मनुष्य-चरित्र से परे नही। रामायण मे ऐसे सद्‌गुणो से पूर्ण पुरुषो की कथा है जिनसे विभूषित नायक की वाल्मीकि को अपने काव्य के लिये जरूरत थी। बालकाड के प्रथम सर्ग मे वाल्मीकि नारद से सारे सद्‌गुणो से सम्पन्न नायक का नाम पूछते हैं। उत्तर मे नारद कहते हैं–'देवताओ मे ऐसा कोई नही, मनुष्यो मे राम ही सब गुणो से युक्त हैं।'

इसलिये रामायण में किसी देवता की कथा नहीं, उसमें नर-कथा का ही प्राधान्य है। किसी देवता ने मनुष्य का अवतार नहीं लिया। राम नामक मनुष्य ही अपने सद्गुणों के कारण देवता बन गया। महाकवि ने मनुष्यों के परमादर्श की स्थापना के लिये ही इस महाकाव्य को रचा था। तब से आज पर्यन्त भारतवासी बड़े आग्रह के साथ मनुष्य के इस आदर्श-चरित्र-वर्णन को पढ़ते हैं।

रामायण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ही घर की कथा वृहद्-रूप से वर्णन की गई है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में जो धर्म-बन्धन होता है—जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध होता है वह इसमें इतना ऊँचा दरसाया गया है कि सहज ही में महाकाव्य के अनुरूप कहा जा सकता है। अन्य महाकाव्यों का गौरव उनमें वर्णन किये हुए विजय, शत्रु-दमन और दो विरोधी पक्षों का आपस में रक्तपात आदि घटनाओं के वर्णन से होता है परन्तु रामायण की महिमा राम-रावण के युद्ध के कारण नहीं। इस युद्ध-घटना का वर्णन तो केवल राम और सीता के उज्ज्वल दाम्पत्य प्रेम का दर्शन कराने के लिये है। रामायण में केवल यही दिखाया गया है कि पुत्र का पिता की आज्ञा का पालन, भाई का भाई के लिये आत्म-त्याग, पत्नी की पति के प्रति निष्ठा और राजा का प्रजा के प्रति कर्तव्य यहाँ तक हो सकता है। किसी देश के महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्ति विशेष का घर-सबंध इतना वर्णनीय विषय नहीं समझा गया है।

पूर्वोक्त वातो से केवल कवि ही का परिचय नही मिलता, सारे भारतवर्ष का परिचय मिलता है। इससे यह मालूम होता है कि भारत मे गृह और गृह-धर्म कितने महान् समझे जाते थे। इस महाकाव्य से यह वात स्पष्टतापूर्वक सिद्ध होती है कि हमारे देश में गृहस्थाश्रम का स्थान कितना ऊँचा है। गृहस्थाश्रम हमारे ही सुख और सुभीते के लिये नहीं, गृहस्थाश्रम सारे समाज को धारण करने वाला है। वह मनुष्य के यथार्थ भावो को दीप्त करता है। वह भारतवर्षीय समाज की नीव है। रामायण उसी गृहस्थाश्रम के महत्व को दिखाने वाला महाकाव्य है। कष्ट और वनवास के दुख दिखाकर रामायण इसी गृहस्थाश्रम को और भी अधिक गौरव दान करती है। कैकेयी और मन्थरा की कुमन्त्रणा ने अयोध्या के राज-गृह को विचलित कर दिया। उस समय जो दुर्भेद दृढता देखी गई, उसका रामायण मे अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। शारीरिक शक्ति को नही, विजय की अभिलाषा को नही राजनैतिक महत्व को नही–किन्तु शांतियुक्त गृह-जीवन को ही रामायण ने करुणा के अश्रुओ से स्नान करा कर वीर रस के सिंहासन पर ला बिठाया है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

४
मजदूरी और प्रेम

हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्राय स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं, खेत उनकी हवन-शाला है। उनके हवन-कुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिर कर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा। जप और तप यह नहीं करता; सन्ध्या-वन्दनादि इसे नहीं

आते, ज्ञान-ध्यान का इसे पता नहीं, मसजिद, गिरजा, मंदिर से इसे सरोकार नही; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रात काल उठकर वह अपने हल-बैलो को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौओ से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसने वाले बादलो के दर्शनार्थ उसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनो की भाषा में वह प्रार्थना करता है। साय और प्रात, दिन और रात विधाता इसके हृदय मे अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावो की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है, तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नही देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नही होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञा-कारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओ को चराना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चो की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता, प्रेम जैसा इन किसानो मे देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का

नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—'भोले भाव मिले रघुराई' भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य्य और चन्द्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नगे सिर, नगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लगोटी कमर मे, एक काली कमली कधे पर, एक लबी लाठी हाथ में लिए गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नगों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

एक बार मैंने बुड्ढे गडरिये को देखा। घना जगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गडरिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लीला छाई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं, और क्यों न सफेद हों? सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीर-सागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास

रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्यायें उसके साथ जगल, जगल भेड चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेडो को छोडकर उन्होंने किसी ओर को नही देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर मे न घर कर बैठना इस दारे फानी मे।
ठिकाना बेठिकाना औ मकाँ बर लामकाँ रखना ॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नही। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपडी बना लेते हैं। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गडरिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खडी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरण इसके लावण्य-मय मुख पर पड रही है। वह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखो के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्को के क्या फव्वारे इधर हमारे उधर तुम्हारे ॥

बोलता कोई भी नही। सूर्य्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान मे पडी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगन्ध से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अन्त करण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेडे सफेद। अपनी सफेद भेडों मे यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ो की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश मे किसी को देखते-देखते गल गईं। पता नही ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हे फुरसत नही। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्द-रहित, सकल्प-रहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है, इनके घर मगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झम-झम *बरसने लगे मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनंदित* हुए। बूढ़ा गडरिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नही, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अग नही समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम, *धम-धम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने* ब्रह्मानन्द का समा बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—'भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।' ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल

जाऊँ, तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें, तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायें और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति मे जो वेद-गान हो रहा है उसे इस गडरिये की कन्याओ की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियो ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितो की ऊटपटाग बातो से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मद-मद हँसी मे ये अनपढ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओठ देख रहे हैं। पशुओ के अज्ञान मे गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगो के जीवन मे अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ मे रख कर कहा— 'यह लो, दिन भर की अपनी मजदूरी।' वाह, क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सबके सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थी ही नही ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर से निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नही। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी

एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है, वह मेरा आमरण मित्र हो गया है। पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरत-मिलाप का सा समाँ बँध आता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठ कर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है। दिन को खाना न मिला, रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त 'हे राम' कह उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवनरूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम प्रार्थना,

सन्ध्या और नमाज से क्या कम है ? शब्दो से तो प्रार्थना हुआ नही करती । ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है ।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामो में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है । रैफेल आदि के चित्रित चित्रों मे उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियो के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावो का अनुभव होने लगता है । केवल चित्र का ही दर्शन नही, किन्तु साथ ही उसमे छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं । परन्तु यन्त्रो की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं । उनमे और हाथ के चित्रों मे उतना ही भेद है जितना कि वस्ती और श्मशान मे ।

हाथ की मेहनत से चीज मे जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज मे कहाँ ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ, उस आलू मे जो रस मुझे आता है वह टीन मे बंद किये हुए अचार-मुरब्बे मे नही आता । मेरा विश्वास है कि जिस चीज मे मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमे उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमे मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है । होटल मे बने हुए भोजन महा नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है । परन्तु अपनी प्रियतमा

के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है ! जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ, तब जल क्या पीता हूँ—अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत का पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है ? प्रेम से जीवन सदा गद्‌-गद्‌ रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ ?

उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी-सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी—जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है, तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रंगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है।

जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नज़र आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व-दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पडती है। वह रोटी नही, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से सयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

आदमियो की तिजारत करना मूर्खो का काम है। सोने और लोहे के वदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलो का दाम तो हजारो रुपया है, परन्तु मनुष्य कौडी के सौ-सौ विकते है। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नही मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नही। मनुष्य पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मदिर और गिरजे मे क्या रखा है ? ईट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो। आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मदिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी मे न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा मे ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है–यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है ! बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और

चिन्तन किस काम के ? सभी देशो के इतिहासो से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियो, मौलवियो, पण्डितो और साधुओ का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन, अन्त मे पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशो मे हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नही पडने पाती, वे धर्म और कला-कौशल मे कभी उन्नति नही कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वे ही आसन ईश्वर प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, वोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकडी, ईट और पत्थर को मूर्तिमान् करने वाले लुहार बढई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब के सब प्रेम-शरीर के अग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यो की चितन-शक्ति थक गई है। बिस्तरो और आसनो पर सोते और बैठे मन के घोडे हार गये हैं। सारा जीवन निचुड चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता मे नयापन नही। उसमे पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल मे असल की पवित्रता और कुँवारे-पन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण सगीत साहित्य-ससार मे प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनो के पहियो के नीचे हमे दबकर मरा समझिये। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूर के कठ मे नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द

के साथ खेत की मेडो का, कपडे के तागो का, जूते के टाँको का, लकडी की रगो का, पत्थर की नसो का भेद-भाव दूर करेंगे। हाथ मे कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नगे सिर और नगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रगे हुए ये बेजवान कवि जब जगल मे लकडी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरो से मिश्रित होकर वायुयान पर चढकर दशो दिशाओ मे ऐसा अद्‌भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावतो के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियो के गीत ससार के सभी देशो के कौमी गीत होगे। मजदूरो की मजदूरी की यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी, तभी नये कवि पैदा होंगे; तभी नये औलियो का उद्‌भव होगा। परन्तु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्ही मजदूर ऋषियो के उद्यान मे प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोडा नही है। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किये फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नही होती। कितने ही उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी मे मग्न रहते है, परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का ? हवा चल रही है, जल बह रहा है, बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है—घास नई, पेड नए, पत्ते

नए ! मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी–ऐसा दृश्य तभी-तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलो की सुगन्ध लो, ठडी वायु मे भ्रमण करो, वृक्षो के कोमल पल्लवो का नृत्य देखो, तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अन्त करण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पडे रहना उन्हे बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादडी, मौलवी, पडित और साधु-सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नही, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके खेल बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमे सन्देह नही कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे, परन्तु इस सालवाले ताजे हैं, इनकी लाली नई है, इनकी सुगन्ध भी इन्ही की अपनी है। जीवन के नियम नही पलटते, वे सदा एक ही से रहते हैं; परन्तु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रो की पूजा क्यो करते हो ? गिरजे की घण्टी क्यो

सुनते हो ? रविवार क्यो मनाते हो ? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढते हो ? त्रिकाल सध्या क्यो करते हो ? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखो कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मा रूपी धातु के गढे हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यो की आत्माओ को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उसमे मनुष्य के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रङ्ग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेमधर्म का तत्व है। जिस समाज मे इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है, क्योकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहिन हैं। अपने ही भाई-बहिनो के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है ? यह सारा ससार एक कुटुम्बवत् है। लँगडे, लूले, अधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं, जिसकी छत के नीचे बलवान्, निरोग और रूपवान् कुटुम्बी रहते हैं। मूढो और पशुओ का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिहासन

सदा से प्रेम और मजदूर के ही कन्धों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है, क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म के लिए जो उपदेश दिये जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपनी ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है, यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परन्तु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्य-मण्डल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थ-रूपी धुरे पर चक्कर देती हैं, परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य-मण्डल के साथ की चाल है और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई! इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मजदूरी करना जीवन यात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आफ़ आर्क (John of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टालस्टाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक

और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना, सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे । उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था । उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था । दूर दूर से साधु आये हुए थे । गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हे भी निमन्त्रण भेजा । गुरु ने भागो का अन्न खाने से इन्कार कर दिया ! इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया । उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा – आप मेरे यहाँ का अन्न क्यो नही ग्रहण करते ?' गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'भागो अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें ।' वह हलवा-पूरी लाया, तो गुरु नानक ने लालो के घरसे भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई । भागो की हलवा-पूरी एक हाथ मे और लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ मे–दोनो को दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली । नानक का यही उपदेश हुआ । जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है । वही धारा शिवजी की जटा से और वही धारा मजदूरो की उँगलियो से निकलती है ।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, सकल्प दिव्य लोकान्तर मे विचरते हैं । हाथ की मजदूरी से ही सच्चे ऐश्वर्य

की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। ससार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्व-ज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, सम्भव है, हम जगत को जीत लें—We shall beat the world with the tips of our fingers जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती, तब तक भारतवर्ष ही की क्या किसी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की चालीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मेहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र

पदार्थों का अमूल्य पदार्थों मे बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। उनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश मे कभी निवास नही करते जहाँ मज़दूर और मजदूर की मज़दूरी का सत्कार नही होता, जहाँ शूद्र की पूजा नही होती। हाथ से काम करनेवालो से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुन्दरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश मे जब मज़दूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरो के हाथो ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है जैसे कि स्वय भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ देना साधारण मजदूरी है, परन्तु मन के गुप्त भावो और अन्तःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम मजदूरी है। शिवजी के ताण्डव नृत्य की और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरो की सहायता से वर्णन करना जड को चैतन्य बना देना है। इस देश मे कारीगरी का बहुत दिनो से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर मे प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोडी थी उनसे

उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नही होती। उन मूर्तियो को तो हर कोई तोड सकता था। उसकी वीरता की प्रशसा तब होती, जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी अर्थात् वहाँ वालो के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोडने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं–वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देव-स्थानो मे स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते, जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकडी और पत्थर पर काम करने वाले भूखो मरते हैं, तब हमारे मन्दिरो की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं ? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा शिवा कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीडित हैं।

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोडकर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले रस्किन और टालस्टाय आदि हैं। पाश्चात्य देशो मे नया प्रभात होनेवाला है, वहाँ के गम्भीर विचार वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के

लिए उठ खडे हुए है। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियो की तरह इन महात्माओ को इस नये प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है और हो क्यो न? इञ्जनो के पहियो के नीचे दबकर वहाँ वालो के भाई-बहिन—नही, नही, उनकी सारी जाति पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गये, उनका समस्त धन घरो से निकल कर एक ही दो स्थानो मे एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे है, मजदूरो के हाथ-पाँव फट रहे है, लोहू चल रहा है, सरदी से ठिठुर रहे है। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य, परन्तु अमीरी भी मानसिक दु खो से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थी मनुष्यो का पेट भरने के लिए—मजदूरो को सुख देने के लिए, परन्तु वे काली काली मशीने ही काली बनकर उन्ही मनुष्यो का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही है। प्रभात होने पर ये काली काली बलाएँ दूर होगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशो मे लोगो को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नही, पर वे तैयारी कर रहे है पूर्वोक्त काली मशीनो का आलिगन करने की। पश्चिम-वालो के तो ये गले पडी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही है। वे छोडना चाहते है, परन्तु काली कमली उन्हे नही छोडती। देखेगे, पूर्व-वाले इस कमली को छाती से लगा कर कितना आनन्द अनुभव करते है। यदि हममे से हर आदमी अपनी दस उँगलियो की

सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हमी, मशीनों की कृपा से बढ़े हुए पश्चिम वालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर आओ, पश्चिम में आने वाली सभ्यता के नये प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नङ्गा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काल डंका का बजाना होगी। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनन्द-मङ्गल का एक साधारण-सा और महा-तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है। अपने भाई-बहिनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देने वालों को मार कर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है, जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रिय-जनों से रहित राज्य किस काम का ? प्यारी मनुष्य जाति का सुख ही जगत् के

मङ्गल का मूल साधन है। बिना उस सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय निष्कपट मन और मित्रता-पूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है, तब वही जगत् में सुख के खेतों को हराभरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

> है रीति आशिकों की तन मन निसार करना।
> रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

—सरदार पूर्णसिंह

उत्साह

दुःख की कोटि मे जो स्थान भय का है, आनन्द की कोटि मे वही स्थान उत्साह का है। भय से हम आगामी दुःख के निश्चय से दुःखी और प्रयत्नवान् भी होते हैं। मूल-दुःख से भय की विभिन्नता प्रयत्नावस्था और अप्रयत्नावस्था दोनो मे स्पष्ट दिखाई पडती है, पर आगामी सुख के निश्चय का प्रयत्न-शून्य आनन्द मूल-आनन्द से कुछ इतना भिन्न नहीं जान पडता। यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय-कुछ भी हाथ पैर न हिलावे, तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की सज्ञा दी जायगी, पर यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप आनन्दित होकर बैठे रहे वा थोडा हँस भी दे तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा, जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खडे होगे, उससे मिलने के लिए चल पडेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्न मुख इधर से उधर दौडते दिखाई देंगे। प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य लक्षण है। प्रयत्नमिश्रित आनन्द ही का नाम उत्साह है। हँसना, उछलना, कूदना आदि आनन्द के उल्लास की उद्देश्य-विहीन क्रियाओ को प्रयत्न नहीं कह सकते। उद्देश्य से जो क्रिया

की जाती है उसी को प्रयत्न कहते हैं। जिसकी प्राप्ति से आनन्द होगा उसकी प्राप्ति के निश्चय से उत्पन्न जिस आनन्द के साथ हम प्राप्ति के साधन मे प्रवृत्त होते हैं उसे तो उत्साह कहते ही है, उसके अतिरिक्त सुख के निश्चय पर उसके उपभोग की तैयारी या प्रयत्न जिस आनन्द के साथ करते है, उसे भी उत्साह कहते हैं। साधन-क्रिया मे प्रवृत्त होने की अवस्था मे प्राप्ति का निश्चय प्रयत्नाधीन या कुछ अपूर्ण रहता है। उपभोग की तैयारी मे प्रवृत्त होने की अवस्था मे प्राप्ति का निश्चय स्वप्रयत्न से स्वतन्त्र, अत अधिक पूर्ण रहता है। पहली अवस्था मे यह निश्चय रहता है कि यदि हम कार्य करेंगे तो यह सुख प्राप्त होगा, दूसरी मे यह निश्चय रहता है कि वह सुख हमे प्राप्त होगा, अत हम उसकी प्राप्ति के प्रयत्न मे नही वल्कि उपभोग के प्रयत्न मे प्रवृत्त होते हैं। किसी ने कहा कि तुम यह काम कर दोगे तो तुम्हे यह वस्तु देंगे। इस पर यदि हम उस काम मे लग गये तो यह हमारी प्राप्ति का प्रयत्न है। यदि किसी ने कहा कि तुम्हारे अमुक मित्र आ रहे है और हम प्रसन्न होकर उनके ठहरने आदि की तैयारी मे इधर से उधर दौडने लगे तो यह हमारा उपभोग का प्रयत्न या उपक्रम हैं। कभी-कभी इन दोनो प्रयत्नो की स्थिति पूर्वापर होनी है, अर्थात् जिस सुख की प्राप्ति की आशा से हम उत्साह-पूर्ण प्रयत्न करते हैं, उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साहपूर्ण प्रयत्न मे लगते हैं, फिर जिस क्षण वह सुख प्राप्त हो जाता है उसी क्षण से उत्साह की समाप्ति और

मूल आनन्द का आरम्भ हो जाता है।

इस विवरण से मन मे यह बात बैठ गई होगी कि जो आनद सुख-प्राप्ति से साधन-सम्बन्ध या उपक्रम-सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओ मे देखा जाता है, उसी का नाम उत्साह है। पर मनुष्य का अन्त करण एक है इससे यदि वह किसी एक विषय मे उत्साह-पूर्ण रहता है तो कभी-कभी अन्य विषयो मे भी उस उत्साह की झलक दिखाई दे जाती है। यदि हम कोई ऐसा कार्य कर रहे हैं जिससे आगामी सुख का पूरा निश्चय है तो हम उस कार्य को उत्साह के साथ करते ही हैं, साथ अन्य कार्यों मे भी प्राय अपना उत्साह दिखा देते हैं। यह बात कुछ उत्साह ही मे नही, अन्य मनोवेगो मे भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध हो बैठे हैं और इस बीच मे कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात पूछता है तो उस पर भी हम झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नही। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात के रोकने की क्रिया है क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध मे हैं और क्रोध मे ही रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातो से भी क्रोध ही संग्रह करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था मे हम विपरीत भावो को ग्रहण करते हैं। यदि हमारा चित्त किसी विषय मे उत्साहित है तो हम अन्य विषयो मे भी अपना उत्साह प्रकट कर सकते हैं। यदि हमारा मन बढा हुआ है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के

लिए तैयार हो सकते है। इस व्यापार को हम मनोवेगो द्वारा स्वरक्षा का प्रयत्न कह सकते हैं। इसी का विचार करके सलाम करने वाले लोग हाकिमो से मुलाकात करने के पहिले अर्दलियो से उनका मिज़ाज़ पूछ लिया करते हैं।

उत्साहयुक्त कर्म के साथ ही अनुकूल फल का आरम्भ है, जिसकी प्रेरणा से कर्म मे प्रवृत्ति होती है। यदि फल दूर ही पर रक्खा दिखाई पडे, उसके परिज्ञान के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगा हुआ न मालूम पडे तो हमारे हाथ-पॉव कभी न उठे और उस फल के साथ हमारा सयोग ही न हो। इससे किसी फल के अनुभूत्यात्मक अश का किंचित् सयोग उसी समय से होने लगता है जिस समय उसकी प्राप्ति की सम्भावना विदित होती है और हम प्रयत्न मे अग्रसर होते हैं। यदि हमे यह निश्चय हो कि अमुक स्थान पर जाने से हमे किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो हमारे चित्त मे उस निश्चय के फल-स्वरूप एक ऐसा आनन्द उमड़ेगा जो हमे बैठा न रहने देगा। हम चल पडेगे और हमारे अग की प्रत्येक गति मे प्रफुल्लता दिखाई देगी। इस प्रफुल्लता के बल पर हम कर्मो की उस शृङ्खला को पार कर सकते हैं जो फल तक पहुँचाती है। फल की इच्छामात्र से जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण स्थायी नही होगा। कभी-कभी उसमे इतनी आकुलता होगी कि वह उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही मे

चूक जायगा। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को बहुत दूर नीचे तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने की खान मिलेगी। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि इस सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण के साथ एक प्रकार का संयोग अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और शरीर अधिक सचेष्ट हो गया तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलेगा, एक एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ खान तक पहुँचेगा। उसके प्रयत्न काल को भी फल प्राप्ति काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा-मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट नीचे पहुँच जाएँ। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर लौट जाय अथवा हड़बड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े। इसी से कर्म में ही फल के अनुभव का अभ्यास बढ़ाने का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने फलासंग-शून्य कर्म के सिद्धान्त द्वारा इस प्रकार दिया है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

कर्म पृथक् फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत

कम करना पडे और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी भारतवासी इस वासना मे ग्रस्त होकर कर्म से उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पडे कि गरमी मे ब्राह्मण को एक कुम्हडा देकर पुत्र की कामना करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान बैठाकर व्यापार मे लाभ, शत्रु पर विजय और न जाने क्या क्या चाहने लगे। प्राप्त या उपस्थित वस्तु मे आसक्ति चाहिए। फल दूर रहता है इससे उसका लक्ष्य ही काफी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना मिलती है या जो आनन्द कर्म करते समय मिलता है वही उत्साह है। कर्म के मार्ग पर आनन्द-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा, न कर्म करने वाले की अपेक्षा, अधिक अवस्थाओ मे अच्छी रहेगी, क्योकि एक तो कर्मकाल मे जितना उसका जीवन बीता वह सुख मे बीता, इसके उपरान्त, फल की अप्राप्ति पर भी उसे पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नही किया। लोग कह सकते हैं कि जिसने निष्फल प्रयत्न करके अपनी शक्ति और धन आदि का कुछ ह्रास किया उसकी अपेक्षा वह अच्छा जो किनारे रहा, पर फल पहले से कोई बना-बनाया तैयार पदार्थ नही होता। अनुकूल साधन-कर्म के अनुसार उसके एक-एक अङ्ग की योजना होती है। इससे बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप मे निश्चित किये हुए उपयुक्त साधन ही का नाम प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्रिय प्राणी बीमार है। वह वैद्य के यहाँ से जब तक औषधि ला-लाकर रोगी को देता

है और इधर उधर दौड-धूप करता है तब तक उसके चित्त में सन्तोष रहता है। वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। इसके अतिरिक्त, रोगी के न अच्छे होने की उस अवस्था मे भी वह आत्मग्लानि के कठोर दुख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच सोच कर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नही किया। कर्म मे आनन्द अनुभव करने का ही नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के जो महत्त्वपूर्ण होते हैं उनके अनुष्ठान मे एक ऐसा अपार आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल स्वरूप प्रतीत होते हैं। अत्याचार को दमन करने तथा क्लेश को दूर करने का प्रयत्न करते हुए चित्त मे उल्लास और सन्तोष होता है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नही रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय मे थोडा-थोडा करके मिलने लगता है जब वह कार्य आरम्भ करता है।

आशा और उत्साह मे जो अन्तर है, उसे भी विचार लेना चाहिए। आशा मे सुख के निश्चय की अपूर्णता के कारण चेष्टा नही होती, पर उत्साह मे क्रिया व चेष्टा का होना जरूरी है। लोग बैठे-बैठे या लेटे-लेटे भी आशा करते हैं, पर उत्साहित होकर कोई पडा नही रहता।

—रामचन्द्र शुक्ल

६ भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय प्रसिद्ध हैं तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद, आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अङ्ग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये हैं, पर सबका अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण

सारा रहस्य हमारी समझ मे आ जाता है तथा इस विषय मे और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नही रह जाती ।

भारतीय साहित्य की दूसरी बडी विशेषता उसमे धार्मिक भावों की प्रचुरता है । हमारे यहाँ धर्म की बडी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उसको स्थान दिया गया है । धर्म मे धारण करने की शक्ति है। अत केवल अध्यात्म पक्ष मे नही, लौकिक आचार-विचारो तथा राजनीति तक मे उसका नियत्रण स्वीकार किया गया है । मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान मे रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मो का निरूपण किया गया है-वेदो के एकेश्वर-वाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद तथा पुराणो के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज मे हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया है । हमारे साहित्य पर धर्म की इस प्रतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपो मे पडा । आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य मे एक ओर तो पवित्र भावनाओ और जीवन-सबधी गहन तथा गभीर विचारो की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भाव तथा विचारो का विस्तार अधिक नहीं हुआ । प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक मे हम यही बात पाते हैं । सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गभीर ऋचाओ तक से लेकर सूर तथा मीरॉ आदि की सरस रचनाओ तक मे सर्वत्र परोक्ष भावों

की अधिकता तथा लौकिक विचारो की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य मे उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गई, परन्तु उनमे लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष मे तो निस्सीम तक पहुँच गई, परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने मे वह कुछ कुण्ठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणो का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव मे हमारे गौरव की वस्तु है, परन्तु समाज मे जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पडती है, उसी प्रकार साहित्य मे भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे यह अनर्थ दो मुख्य रूपो मे देखते है, एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशो के रूप मे और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी की शृगारी कविताओ के रूप मे। हिन्दी मे साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति के दोहो' की तो अबतक भरमार है। अन्य दृष्टियो से नही, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है, क्योकि नीरस

पदावली में कोरे उपदेशों से कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण का आलम्बन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिए हितकर न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्‌-भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में अन्तर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं, तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंगलैंड तथा आयरलैंड

जैसे जलावृत द्वीप हैं, तो चीन जैसा विस्तृत भूखण्ड भी है । इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियो का उन देशो के साहित्यो से जो सबध होता है उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताये कहते हैं ।

भारत की शस्य-श्यामला भूमि मे जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उसमे भारतीय कवियो का चिरकाल से अनुराग रहा है । यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिये आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो मे मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं । अरब के कवि मरुस्थल मे बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड-से लम्बे-लम्बे पेडो मे ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटो की चाल मे ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु जिन्होने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर सध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हे घनी अमराइयो की छाया मे कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओ की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियो की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हे अरब की उपर्युक्त वस्तुओ मे सौन्दर्य तो क्या, हाँ, उन्हे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगी। भारतीय कवियो को प्रकृति की सुन्दर गोद मे क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनो मे तथा सुन्दर जलाशयो के तटो पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं । यही कारण है भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट

नया सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिये जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि वहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्सम्भव सौन्दर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के सचार में भी करते हैं। वह अखण्ड-भूमण्डल तथा असख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, सचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अत कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पडकर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उसमें भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सबधी रहस्यवाद का एक अग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उप-

योमिता है, उतनी दूसरे रूपो की नही होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी मे बहुत थोडे रहस्यवादी कवि हुए है, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियो ने भारतीय मनोहर दृश्यो की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियो को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त, उसके कलापक्ष मे भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियो का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-सघटन अथवा छन्द-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगो से ही नही है, प्रत्युत उसमे भावो को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल मे कवि का व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है और आवश्यकता पडने पर उस कविता के विश्लेपण द्वारा हम कवि के आदर्शो तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणत हम यह देखते हैं कि कुछ कवियो मे प्रथम पुरुप एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष मे अपने भाव प्रकट करते हैं।

अग्रेजी मे इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परन्तु ये विभेद वास्तव मे कविता के नही हैं, उसकी शैली के हैं। दोनो प्रकार की कविताओं मे कवि के आदर्शो का अभिव्यजन होता है,

केवल इस अभिव्यंजना के ढंग में अन्तर रहता है। एक में वे आदर्श आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक तथा कुछ भक्त-कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीत-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कल्याण की अन्य महत्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा साथ ही भारतीय मनोविज्ञान की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-मात्रिक छंद समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है, परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

—डॉ० श्यामसुन्दर दास

७ सच्चा साहित्यकार

इन दिनो हिन्दी मे आलोचको और विचारको की सख्या काफी बडी है। साहित्य के मूल प्रेरणा-स्रोतो को खोज निकालने और समूचे साहित्य को मानव-कल्याण के लिए नियोजित करने की चेष्टा आज जितनी प्रबल है उतनी कभी नही थी, परन्तु साथ ही साहित्य-विचारक आज जितना साहित्यिक गतिरोध से चिन्तित हुआ है उतना कभी नही हुआ था। छोटी-छोटी बातो मे उलझना आज के साहित्यिक जीवन का प्रधान कार्य मान लिया गया है। साहित्य के लक्ष्य और उद्देश्य, आलोचक के कौशल और चातुर्य, साहित्यकार के सिद्धान्त और उद्देश्य आदि अस्पष्ट बातो को लेकर दलबन्दियाँ हो रही हैं, एक दूसरे पर कटाक्ष करने, असत् अभिप्राय के आरोप करने और व्यक्तिगत स्तर पर छिद्रान्वेषण करने की प्रवृत्ति निरन्तर उग्र होती जा रही है। पर जो बात भुला दी गई है वह यह है कि इन बातो से साहित्य आगे नही बढता। प्राय देखा जाता है कि सिद्धान्तो की बात करते समय अत्यन्त ऊँचे और भव्य आदर्शो की बात करने वाला लेखक वास्तविक साहित्य-रचना के समय ढुलमुल चरित्रो, गन्दी और घिनौनी परिस्थितियो, असन्तुलित बकवास के आवरण मे आच्छादित वार्तानुवादो और

मनुष्य के भीतर छिपे हुए पशु के विस्तारित विवरणों में रस लेना है। यह सत्य है कि साहित्य नीतिशास्त्र की सूचियों का सग्रह नही होता, पर यह और भी सत्य है कि वह मनोविज्ञान और प्राणि-विज्ञान की प्रयोगशालाओं से उधार लिये हुए प्राणियों का मेला भी नही होता। जो साहित्य अविस्मरणीय दृढचेता चरित्रों की सृष्टि नही कर सकता, जो मानव-चित को मथित और चलित करने वाली परिस्थितियों की उद्भावना नही कर सकता और मनुष्य के दुख-सुख को पाठक के सामने हस्तामलक नही बना देता, वह बडी सृष्टि नही कर सकता। जीवन के हर क्षेत्र में यह सिद्धान्त समान रूप से मान्य है कि छोटा मन लेकर बडा काम नही होता। बडा कुछ करना हो तो पहले मन को बडा करना चाहिये। हमारी साहित्यिक आलोचना के अत्यन्त बौद्धिक और उद्देश्यान्वेषी वाद-विवादों में यही बात भुला दी जाती है। 'साहित्य' नामक वस्तु साहित्यकार से एकदम अलग अन्य निरपेक्ष पिण्ड-तुल्य पदार्थ नही है। जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण नही है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नही देख सका है वह बडे साहित्य की सृष्टि नही कर सकता। परन्तु केवल इतना ही आवश्यक नही है उसमे प्रेमपूर्ण हृदय के साथ अनासक्त बनाये रहने वाली मस्ती भी होनी चाहिये। मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण हृदय और अनासक्ति-जन्य मस्ती साहित्यकार को बडी रचना करने की

शक्ति देती है। हमारा साहित्यिक आलोचक बड़ी बड़ी विदेशी पोथियों और स्वदेशी ग्रंथों से संग्रह करके जितनी भी विवेचनाओं का वाग्जाल क्यों न तैयार करे वह साहित्यिक-गतिरोध नहीं दूर कर सकता। साहित्यिक गतिरोध दूर करते हैं विशाल हृदय वाले साहित्यिक। कुछ ऐसी हवा बही है कि साहित्यिक टाँय-टाँय तो बहुत बढ़ गई है, पर सच्चा साहित्यकार उपेक्षित हो गया है।

सैद्धान्तिक वाद-विवाद आवश्यक है, पर उन्हीं में उलझ जाना ठीक नहीं है। वास्तविक साहित्यिक दुनिया में क्या हो रहा है, और किन कारणों से ऐसा हो रहा है, इस ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान जाना चाहिये। क्या कारण है कि हमारे मंजे हुए साहित्यिक प्रभावहीन ढुलमुल चरित्रों का निर्माण करते जा रहे हैं, होस्टलों की दुनिया में सीमित हो गये हैं पारिवारिक पवित्र प्रेम की उपेक्षा कर रहे हैं, उच्च शिक्षा-प्राप्त युवक-युवतियों की असन्तुलित जीवन-विकृतियों को महत्व दे रहे हैं और तथाकथित यथार्थवादी भावधारा से बुरी तरह आतंकित दिखाई दे रहे हैं? क्या साहित्य का लेखक सब प्रकार के सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी हो गया है? क्या ज्ञान की अनुसंधित्सा और शिक्षा के सभ्य दिखने वाले वातावरण ने सचमुच ही हमारे सामाजिक जीवन में विकृत दृष्टि उत्पन्न कर दी है?

साहित्य प्रभावशाली होकर सफल होता है। साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है। कुछ आग केवल आँच पैदा करती हैं। जीवन

के लिए उसकी भी आवश्यकता होती है। हमारे स्थूल जीवन के अनेक पहलू हैं। हमें नाना शास्त्रों की जरूरत होती है। परन्तु दीप-शिखा स्थूल प्रयोजनों के लिए व्यवहृत होने योग्य आंच नहीं देती। वह प्रकाश देती है। साहित्यकार जो कहानी लेता है, जिन जीवन-परिस्थितियों की उद्भावना करता है वह दीपशिखा के समान आंच के लिए नहीं होती बल्कि प्रकाश के लिए होती है। प्रभाव ही वह प्रकाश है। समूचे बाजार की ब्योरेवार घटनाएँ भी वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकतीं जो एक-दो चरित्रों को ठीक से चित्रित करके उत्पन्न किया जा सकता है—उसी प्रकार जिस प्रकार बहुत-सी लकड़ियाँ जल कर भी उतना प्रकाश नहीं उत्पन्न कर पातीं जितना एक छोटी-सी मोमबत्ती कर देती है। ससार के बड़े-बड़े साहित्यकारों ने यथार्थवादी कौशलों को इसलिए अपनाया था कि उनके सहारे वे पाठक को अपने नजदीक ले आते थे और उसके चित्त में यह विश्वास पैदा करते थे कि लेखक उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहा है। यही बात मुख्य नहीं हुआ करती। परन्तु बाद के अनुकरण करने वालों ने उन कौशलों को ही लक्ष्य समझ लिया। कभी-कभी अच्छे साहित्यिक भी कौशलों को ही लक्ष्य समझने की गलती कर जाते हैं। स्थानीय दृश्यों के ब्योरेवार चित्रण, सामाजिक रीति-रस्मों का और उनकी प्रत्येक छोटी-बड़ी बातों का सिलसिलेवार निरूपण, वक्तव्य वस्तु के लिए अत्यन्त अना-

वश्यक और नगण्य दिखने वाली बातो का विस्तारित वर्णन, स्थान-कालोपयुक्त बोलियो, गालियो, मुहावरो आदि का प्रयोग, व्यवसायिक और पेशेवर लोगो के प्रसग मे उनकी भाषा और भगियो का उल्लेख, सनदो, दलीलो, डायरी, समाचार-पत्रो का उपयोग—ये सब यथार्थवाद नही है, यथार्थवादी कौशल है। इनके द्वारा लेखक पाठक के हृदय मे अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है और अपने वक्तव्य की सच्चाई के सम्बन्ध मे आस्था उत्पन्न करता है। ये ही लक्ष्य नही हैं। लक्ष्य हैं मनुष्य जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का सकल्प, मनुष्य के दुःखो को अनुभव करा सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढचेता आदर्श चरित्रो की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहें। जो साहित्यकार ऐसा नही कर पा रहा है उसमे कही न कही कोई त्रुटि है। बडे साहित्य का रचयिता ही बडा साहित्यकार है। कभी-कभी उल्टे रास्ते सोचने का प्रयास किया जाता है। हमारी साहित्यिक आलोचना मे हवाई बातो को छोड़कर ठोस रचनाओ को लेकर चर्चा चले तो अच्छा हो, व्यर्थ की दलबन्दियो और आरोप-प्रत्यारोपो के वाग्जाल मे कोई सार नही है। इनमे हमारी चित्तगत दरिद्रता का ही प्रदर्शन होता है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

८ आनन्द की खोज

आनन्द की खोज मे मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पडा जैसे चन्द्र की ओर से चकोर लडखडाता हुआ फिरता है ।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रह कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते मैं अनाथ कैसे हूँ! क्या मैं जगत के बाहर हूँ ?

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूल की इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले । हा, आनन्द के बदले मैं रुदन और सोच को परिपोषित कर रहा था!

अन्त तो मुझसे न रहा गया । मैं चिल्ला उठा—आनन्द, आनन्द कहाँ है आनन्द ! हाय ! तेरी खोज मे मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया । बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दोहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी । अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ । पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझ से पूछ उठा—क्या कभी अपने आप मे भी देखा था ? मैं अवाक् था ।

सच तो है । जब मैंने—उसी विश्व के एक अग—अपने

आप तक मे न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यो देने लगे ?

परन्तु, यहां तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली थी वह अपने आप मे मिली।

—रायकृष्णदास

६ साहित्य का प्रयोजन

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दो पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ मे आता है, और कभी उद्देश्य के अर्थ मे व्यवहृत होता है इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, और कभी फल या कार्य का, विशेषकर हिन्दी मे इसके प्रयोगो मे बडी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ मे ही कर रहे है। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नही है। इसके प्रयोग मे भी बडा मतभेद है। यह दर्शनशास्त्र का शब्द है। परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नही करते; उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का सम्बन्ध ही नही है, अत. ये दोनो शब्द एक साथ नही रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है, निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नही हो सकता। अखड, अज, अव्यय, नित्य, अविकारी आत्मा से सीमित,

व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध संभव नही है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा ना भूया।' त्रिकाल मे भी न उत्पन्न होने वाली और न मरने वाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियो की क्या सगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वही दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर सम्बन्ध मानने वाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्वचिंतन मे पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष सम्बन्ध स्थिर करने वाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों मे इस प्रकार की विचार भूमिकाये मिलती है। शक्ति-सिद्धात को मानने वाले सम्प्रदाय जो अपने मत-चिंतन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते है, आत्मा को शक्ति-रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार मे शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है, अत. अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के सम्बन्ध की अनेक-रूपता का आभास हमे भारत की विभिन्न चिंता-धाराओ से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा मे नही पड़े है। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते है कि

इस शब्द को लेकर दार्शनिकों मे मतैक्य नही है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर सभी सभव दृष्टियो के स्थापन की चेष्टाएँ की गई हैं, जिनमे साम्य या समन्वय ढूंढने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल मे भी अनुभूति का कोई सबध न मानने वाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के विना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करने वाले शक्ति-तत्र के सस्थापक आचार्य हैं, और इन दोनो के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी सम्बन्ध स्थिर करने वाले सापेक्षवादी द्वैत-चिन्तक हैं। हम इस अन्तहीन विचार-व्यूह मे प्रवेश करने मे अभिमन्यु की भाँति ही शकित है, अतएव हम इनसे विरत रहकर ही सतोप करेंगे।

सच तो यह है कि हमे इस दार्शनिक ऊहापोह मे जाने की आवश्यकता ही नही है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नही करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है, अत हम आत्मानुभूति के शब्द-प्रपच मे न पडकर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस का निर्माण करते समय लिखा था—'स्वातः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्ध मति मजुल मातनोति।' यहाँ 'स्वात.सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति

से ही है। रस-सिद्धांत का निरूपण करने वाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, सचारी-भाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल मे अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धात की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं, जिसमे अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओ मे उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियो का दिग्दर्शन करते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढाते है। इसमे हमे नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नही देती, परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप मे रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढते हैं, जिसमे विविध व्यक्तियो की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओ का परिचय पा रहे हैं, जो वास्तव मे घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार मे रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं, पर क्या उसकी अनुभूति के बिना यह रचना किसी प्रकार सम्भव है? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है

कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूप-रेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावन-व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यह शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या सम-रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एक-रूप या समान होती है? यदि नहीं, तो क्या अनुभूति में स्वरूप-गत भेद होते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अन्तर है? अन्तर है, तो किस प्रकार का? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अनुभूति होती है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य-शक्ति नहीं होती। उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ—अनुभूति और काव्यानुभूति—स्वरूपतः भिन्न हैं?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता, उसमें अपनी अनु-

भूतियों के प्रकाशन की योग्यता नहीं होती; पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस सम्बन्ध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कला-शास्त्री बेनिडीटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है, जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति मे यह अभिव्यक्ति क्षमता नहीं है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई-मात्र है। वह अनुभूति, जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नहीं सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वयार्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर लें; तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप-ही-आप मिल जाता है। यह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्य-मात्र में उसकी अखंडता स्वयसिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नहीं। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नहीं है, उसका

यथार्थ रूप हमे समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के संबंध मे यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नही है। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानो मे भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बताकर और शब्दो पर उलझने वाले न्यायशास्त्रियो तथा वैयाकरणो को 'काष्ठ कुड्य' की उपमा देकर हमारे विनोद-प्रिय पूर्वजो ने काव्यगत अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होने काव्य के विविध प्रकारो, शैलियो और पद्धतियो के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नही खीची है, जिससे उसके सर्वसामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आए। समस्त काव्य-शैलियो और काव्य-स्वरूपो मे अनुभूति की अखड एकरूपता या अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयो ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यजक रचना से कभी-कभी उन कृतियो का अर्थ लिया जाता है, जिनमे रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है, परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओ को अनुभूति-रहित नही कहा जा सकता। कुछ समीक्षको ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य मे मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नही कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। व्यक्तिगत-

अनुभूति से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नही, अतएव उन्हे तो काव्य की सज्ञा भी नही दी जा सकती। वास्तविक अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किये ही नही जा सकते, उसकी सत्ता अखंड है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कह कर दूसरी काव्य-रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्राति है।

इसी प्रकार हम कभी किसी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसो की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महा-काव्य, खड-काव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदो की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिये, प्राय शृगार-रस को रसराज घोषित किया जाता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि कोई भी शृगारिक रचना, किसी भी अन्य रस की रचना से स्वत. श्रेष्ठ है। सभी रसो में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसीलिए महाकाव्य नही है कि उसमे 'काव्य' की सत्ता किसी लघु-गीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनो काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-प्रकार और परिणाम आदि के अन्तर भले ही हों।

किसी प्रचण्ड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अति-तरल गीति-नाट्य मे, सहस्रो पृष्ठो के समाहित उपन्यास में और चार या दस पक्तियों के गद्य-गीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक

भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और वह अति-लघु गद्य-गीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता मे अन्तर होता, तो इनमे से किसी एक, दो या सबको काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि ये सभी काव्य साहित्य के अग हैं, तो इनमे अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरां आदि कवियो में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारो मे क्या अन्तर है ? क्या यह कि वे भक्त और सन्त थे और उनकी रचनाओ से भक्ति व ईश्वर प्राप्ति की शिक्षा मिली और वे ससारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियो से लोक-कल्याण न हो सका? परन्तु भक्ति और ईश्वरप्राप्ति के सदेशवाहक सभी तो कवि नही हुए और न सभी ससारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था मे तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वरप्राप्ति या लोक-कल्याण नही हो सकता। तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व, जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओ का कोई सबध नही और जिसका एकमात्र मानदण्ड है अनुभूति। संभव है हम यह कहे कि देव, बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नही, वे कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है, पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नही हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करनेवाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतन्त्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते हैं, पर उनकी यह उत्पत्ति सच्चे काव्य-

प्रेमियो को मान्य नही हो सकती ।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन माननेवालो के सम्मुख यह भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूचो की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट-छाँट कर और कभी शब्दो की अर्थ-व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमो का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमो से कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलंबित है। इस सम्बन्ध मे नियम-निर्देश करना सम्भव नही। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के सम्बन्ध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छद के स्थान पर दूसरा छद रखकर 'आदर्श' अभिव्यक्ति नही कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य-कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नही थे, तो इसका अर्थ यह नही कि उसकी अनुभूति अपनी 'आदर्श' अभिव्यंजना नही प्राप्त कर सकी। वन्य-कलाकार की वही आदर्श अभिव्यजना है, जो उसने अपने मोटे साधनो मे की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-राशि नही थी, किन्तु उन्होने जिस किसी प्रकार से अपने भाव

व्यक्त किए, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अन्तरंग अनन्यता मे संदेह नही किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमे कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने मे असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नही है, जिसमे वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नही आती, उसे गुणीभूत-व्यंग्य या चित्र-काव्य-मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल मे रहा करता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वत एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोडने की कोई आवश्यकता नही। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहा है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं, उसके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सास्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है; परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही रहेगा। किसी महा-

महिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से निःसृत हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम शृंगार हो सकती हैं। वर्ग-संघर्ष की भावना किसी युग में काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है, परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती, जो काव्य-साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इस प्रकार स्थूल इन्द्रियता पर आधारित अनुभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व में परिणत हो नहीं सकती, क्योंकि वहाँ आत्मानुभूति के प्रकाशन में विकारी कारण मौजूद रहेंगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है, जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में समस्त वर्णभेद, वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी।

नन्ददुलारे वाजपेयी

(१)

राजस्थानी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह जीवन से अलग पागलो का प्रलाप नही किन्तु जीवन के साथ घनिष्ठ सबध रखने वाला है। वह जीवन को प्रेरणा देने वाला, उसमें नयी चेतना फूँकनेवाला है। राजस्थान का कवि केवल कवि ही नही होता था वह कलम के साथ तलवार का भी धनी होता है। उसकी सप्राण कलम का चमत्कार ससार अनेक वार देख चुका है। महाराणा प्रताप और पृथ्वीराज के पत्र की घटना सुप्रसिद्ध है।

राजस्थानी साहित्य जनता का साहित्य है। जनता के जीवन के नाना-रगी चित्र उसमें प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा, उमग-आघात, हास्य-रुदन सभी का उसमें मार्मिक अकन हुआ है। कुछ महानुभावो ने उसे एक वर्ग का, सामन्तो, भटैती-भरा और प्रतिगामी साहित्य वताने का साहस किया है। राजाओ और सामन्तो की भटैती उसमें नहीं है यह हम नही कहते, पर वही तो सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य नही है। वह तो उसका एक अग-मात्र है।

श्रौर फिर ऐसी भटैती किसी भाषा के साहित्य में नही है ? कौन-सी भाषा उससे अछूती है ?

राजस्थानी साहित्य बहुत विशाल श्रौर विस्तृत है। जीवन के सभी श्रशो का चित्रण उसमें मिलेगा। साहित्य के नाना प्रकारो का वह सुन्दर प्रतिनिधित्व करता है। विषय-विविधता की उसमे कमी नही। वीर रस का अटूट भडार तो वह है ही, अन्यान्य रसो की भी उसमे कमी नही। ऐसा सुन्दर शृ गार मिलेगा कि पाठक मुग्ध हो जायगा, नीति के ऐसे-ऐसे रत्न मिलेंगे कि वह फड़क जायगा, भक्ति श्रौर शात रस की वह पवित्र धारा मिलेगी कि उसमें स्नान कर उसका हृदय पवित्र हो जायगा। राजस्थानी का भक्ति-साहित्य वीर-साहित्य से कही बड़ा है श्रौर ऐसे भक्तो श्रौर सतो की वाणी का प्रसाद है जिनने जनता के साथ जनता का जीवन बिताते हुए जीवन के तत्त्वो का अनुभव किया था।

राजस्थानी का चारणी वीर-गीतो का श्रौर दूहो का साहित्य गुण श्रौर परिमाण दोनो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। सैंकडो दूहे लोगो की जिह्वा पर श्रौर हजारो ग्रन्थ-भडारो की पोथियो मे मिलेंगे। दूहा उत्तर-अपभ्रश-काल से ही राजस्थान का बहुत लोक-प्रिय छन्द रहा है। चारणी गीतो की सख्या हजारो है। राजस्थान मे शायद ही कोई ऐसा वीर या जूझार हुआ हो जिसकी स्मृति मे एकाध गीत न बना हो। हजारो वीरो की स्मृति को इन गीतों ने सुरक्षित रखा है। इतिहास के लिए यह एक-अनमोल सम्पदा है।

राजस्थानी का लोक-साहित्य भी वैसा ही महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी होते हुए भी उसकी तह मे जीवन के मनोरम आदर्शों की अन्तर्धारा प्रवहमान मिलेगी।

राजस्थानी साहित्य की विशेष रूप मे उल्लेखनीय विशेषता उसका प्रचुर गद्य-साहित्य है। भारत की अन्यान्य भाषाएँ इस विषय मे इतनी सौभाग्यशालिनी नही। राजस्थानी मे गद्य-रचना चौदहवी शताब्दी से अब तक बराबर होती रही है। बीसवी शताब्दी मे हिन्दी के आगमन के कारण गद्य-लेखन परम्परा की गति मद पड गयी पर बन्द कभी नही हुई। इस साहित्य में ऐतिहासिक कृतियाँ भी हैं और कथात्मक भी।

(२)

प्राचीन राजस्थानी साहित्य का सक्षिप्त परिचय

राजस्थानी साहित्य के विकास को तीन कालो में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्राचीन काल स० ११५० से १५५०
(२) मध्यकाल स० १५५० से १८७५
(३) अर्वाचीनकाल स० १८७५ के पश्चात्

प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य का ही सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जायगा। यह साहित्य तीन विभिन्न शैलियो में लिखा हुआ है—

(१) जैन शैली (२) चारणी शैली (३) लौकिक शैली।

जैन के प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की परम्परा राजस्थानी में भी चालू रही। जैनो का यह साहित्य विस्तार में बहुत बड़ा

है। चारणी साहित्य से यह विस्तार मे ही नही किन्तु विषय विविधता की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अधिकाश धार्मिक है। कथा-साहित्य की प्रचुरता इसकी एक बडी भारी विशेषता है। यह कथा-साहित्य बहुत विशाल है। वह गद्य और पद्य दोनो मे प्रभूत परिणाम मे लिखा गया। तत्कालीन सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास पर उससे महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। गद्य साहित्य की प्रचुरता उसकी दूसरी बडी विशेषता है। हिंदी आदि भाषाओ मे प्राचीन गद्य का अभाव-सा है, पर राजस्थानी मे चौदहवी शताब्दी से गद्य-साहित्य बराबर मिलता है और प्रभूत परिणाम मे मिलता है।

जैन साहित्य अनेक रूपो मे लिखा गया। जैसे–(क) प्रबध, कथा, राम, रासो, भास, चौपाई; (ख) फाग, बारहमासा, चौमासा; (ग) दूहा, गीत, धवल, गजल; (घ) सवाद, मातृका (बावनी, ककहरा ,स्तवन, सझाय (स्वाध्याय), (ङ) पट्टावली गुर्वावली, बही, दफ्तर, पत्र; (च) बालावबोध, टब्बा आदि-आदि। 'क' समुदाय प्रबध और कथा काव्यो का है। रास मूल रूप मे वह काव्य था जो रास-नृत्य के साथ गाया जाता था। वह राग-रागनियों में या अपभ्रश के छन्दो मे लिखा जाता था। आगे चलकर नृत्य से उसका सबंध छूट गया और उसने लम्बे कथा-काव्य का रूप धारण कर लिया। युद्ध-वर्णनात्मक काव्य रासो (रासक) कहलाया। 'ख' समुदाय ऋतु-काव्यो का है। फाग में वसंत के सौंदर्य का और प्रेमियो के वासतिक नृत्यादि

हुए । उदयराज एक और दूहा-लेखक हुआ जिसके दूहो ने भी खूब लोकप्रियता प्राप्त की ।

जैनो के श्वेताम्बर तेरापथी सम्प्रदाय ने राजस्थानी की महत्वपूर्ण सेवाएं की । आज भी जब दूसरे जैन-सम्प्रदायों ने हिन्दी को अपना लिया है, तेरापथी-सम्प्रदाय राजस्थानी-भाषा को ही प्रधानता देता है । तेरापथी साहित्यकारो में सबसे महत्व पूर्ण नाम सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी (जयभिक्षु) का है जिनका देशी राग-रागनियो मे किया हुआ भगवती-सूत्र का अनुवाद राजस्थानी का सबसे बड़ा ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ की श्लोक सख्या ८० हजार के लगभग है ।

जैन विद्वानो ने साहित्य की रचना ही नही की किंतु साहित्य की रक्षा करने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया । जैन और जैनेतर सभी प्रकार के साहित्य को उनने सग्रहीत किया और उसे लुप्त होने से बचाया । सैकडो जैनेतर ग्रन्थ, जो अन्यत्र अलभ्य हैं, जैन-भडारों मे देखे जा सकते हैं । राजस्थान के मौखिक साहित्य का सग्रह करके उसे भी उनने सुरक्षित रखा ।

लौकिक-साहित्य—

स० १२७२ मे नरपति नाल्ह ने (जो एक ब्राह्मण था) बीसलदेव-रास की रचना की । यह जनता की भाषा में लिखित एक छोटा-सा प्रेमकाव्य है । लौकिक साहित्य की सबसे उल्लेखनीय रचना 'ढोला-मारू-रा-दूहा' है । यह एक बहुत प्रसिद्ध प्रेम-काव्य है । इसके दूहे जनता में बहुत प्रचलित हुए ।

सदयवत्स और सावलिंगा की प्रेमकथा भी बहुत लोकप्रिय हुई। अनेक लेखकों ने उस पर कलम चलायी। ऐसी ही एक और प्रेम कथा माधवानल कामकुंदला की है। वह भी अनेक लेखकों द्वारा लिखी गयी। सबसे प्राचीन रचना गणपति कायस्थ का माधवानल-कामकुंदला-दोग्धक-प्रबंध है जिसकी रचना सं. १८५३ में हुई। सम्राट् विक्रमादित्य ने लोक-कल्पना को बहुत प्रभावित किया। उसके संबंध में अनेक लोक-कथाएँ बनी और जनता में प्रसृत हुई। इन कथाओं को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी गयीं जिसमें उसके अदम्य साहस, वीरता, उदारता और महानता का चित्रण हुआ। सिंहासन-बत्तीसी, पंचदंड-प्रबंध, विक्रम-चरित, बेतालपच्चीसी आदि के नाना रूपान्तर राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं। पंचतंत्र की कथाओं के भी कई रूपान्तर तैयार हुए।

हरजी-रो व्यांवलो (या रुक्मणी-मंगल) और नरसीजी-रो-माहेरो-ये दो कृतियां राजस्थानी जनता में लोकप्रिय हुई। प्रथम का लेखक पदम तेली और दूसरी का रतना खाती था। व्यांवले में कृष्ण द्वारा रुक्मणी के हरण की कथा है। माहेरे में कृष्ण ने नरसी मेहता की पुत्री नान्हीबाई का माहेरा (भात) भरने का वर्णन है। यह एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है, जिसमें करुण और हास्य का बड़ा हृदयग्राही मेल हुआ।

लौकिक साहित्य का एक प्रमुख प्रकार 'ख्याल' है जो आगे जाकर विकृत हो गया। सैकड़ों ख्याल बने और जनता में उनका

प्रचार भी हुआ। इनमें ढेडाऊ-मेरी का ख्याल बहुत प्रसिद्ध है जिसका होली के अवसर पर अभिनय भी किया जाता है। स्थान अधिकांश में गायक-मंडलियों द्वारा गाये और अभिनय किये जाते थे।

लौकिक साहित्य का एक और रूप सलोका साहित्य है।

लोक-गीतों में दो का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है। 'जीण माता' का गीत करुण-रस का एक उत्कृष्ट रचना है जिसे किसी भी भाषा के श्रेष्ठ गीतों के मुकाबले में रखा जा सकता है। दूसरा 'डूगजी-जवारजी' का गीत है जो वीर-रस का फड़कता हुआ उदाहरण है और बहुत लोकप्रिय है।

सन्त-साहित्य को भी हम लौकिक साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणित करेंगे। राजस्थान में समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनने सन्त-कवियों को जन्म दिया। कबीर, सूर आदि के अनेक पद भी राजस्थानी रूप धारण करके राजस्थानी साहित्य के अंग बन गये। इन कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध मीरांबाई है जो भारत की सर्वश्रेष्ठ नारी-कवि मानी जाती है। उनके पदों को अभूत-पूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। राजस्थान और गुजरात में ही नहीं, अपितु बंगाल और मद्रास जैसे सुदूर-स्थित प्रदेशों में उनके पदों की प्रसिद्धि हुई। मद्रास में तो मीरांदासी-सम्प्रदाय तक स्थापित हुआ। मीरां के पद प्रधानतया राजस्थानी मिश्रित ब्रज में हैं। गुजराती का मिश्रण भी कई पदों में मिलता है। श्री मुंशी के शब्दों में Her poetic skill possesses the

supreme art of beingartless। चन्द्रसखी के भजन मीराँ के भजनो की भांति ही प्रचलित है। बखतावर के पद भी वैसे ही हृदयस्पर्शी हुए हैं।

राजस्थान की देहाती और निम्नतर की जनता पर 'सिद्धो' का काफी प्रभाव रहा है जिनमे पाबूजी, रामदेवजी, हड़बूजी, गोगाजी, जाभोजी, तेजाजी आदि उल्लेखनीय हैं। इनके सम्बन्ध का साहित्य भी बडा भावपूर्ण है। पाबूजी के 'पवाड़े' लोक-काव्य की अत्यन्त उत्कृष्ठ रचना है।

चारणी साहित्य--चारणी शैली की प्रारम्भिक रचनाओ मे श्रीधर कृत रणमल्ल-छन्द, ढाढी बहादर कृत बीरमायण और चारण शिवदास कृत अचलदास-खीची-री वचनिका है। रणमल्ल-छन्द मे ईडर के राजा रणमल और गुजरात के बादशाह के युद्ध का और बीरमायण मे राव बीरम (जोधपुर के सस्थापक राव जोधा का परदादा) के पराक्रम का वर्णन है। वचनिका तुकान्त गद्य वाली रचना को कहते है जिसमे पद्य-भाग भी होता है। स० १५९५ मे बीठू सूजा नगराजोत ने 'राउ-जइतसी-रउ-छन्द' की रचना की जो राजस्थानी-साहित्य मुकुट का एक उज्ज्वल रत्न है। इसमे बीकानेर के राजा जैतसी के हाथो हुमायूँ के भाई कामराँ की पराजय का वर्णन है। इसकी भाषा मे एक तूफानी प्रवाह पाया जाता है। शैली सादर्गीपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त हृदयग्राहिणी है। राजस्थानी के सर्वश्रेष्ठ बीर-काव्यो में इसका अग्रस्थान है। चारण कवियो मे बारठ ईसरदास शिरोमणि

माने गये हैं। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं हरिरस, देवियाण और हालां-झालां-री कुण्डलियां है। प्रथम दोनो भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ हैं जो स्तोत्रो का पद प्राप्त कर चुकी हैं। 'कुण्डलियां' का वीर-रस की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में स्थान है। इसके अतिरिक्त उनने अनेक गीतो और प्रकीर्णक पद्यो की रचना की है।

चारणी शैली के कवियो में सबसे अधिक प्रसिद्ध राठौड पृथ्वीराज (१६०६–१६५७) हुए। वे एक महान् वीर, महान् भक्त, और महान कवि थे और अपने जीवन-काल में ही इन रूपो मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। महाराणा प्रताप और पृथ्वीराज के पत्र की घटना सुप्रसिद्ध है। 'क्रिसन रुकमणी-री वेलि' उनकी प्रमुख रचना है। इसमें राजस्थानी भाषा पर कवि का अद्भुत अधिकार देखने को मिलता है। राजस्थानी-भाषा में ऐसी कला-पूर्ण कृति सम्भवत दूसरी नही। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी, जिनमें दो सस्कृत मे हैं। पृथ्वीराज ने वेलि के अतिरिक्त प्रकीर्णक कविता (गीत, दूहे आदि) भी बहुत लिखी।

दधवाडिया चारण माधोदास ने राम-रासो में रामायण की कथा कही। झूला सांया ने रुकमणी-हरण और नागदमण की रचना की। आढा दुरसा चारण-कवियो में बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने महाराणा प्रताप की प्रशंसा में बिडद-छिहतरी लिखी। आढा किसना ने हर-पार्वती-री-वेलि की रचना कर पृथ्वीराज की क्रिसन-रुक्मणी-री वेलि की सफल स्पर्धा की। खिड़िया जगा की रतन-महेसदासोतरी वचनिका वचनिका-शैली की सर्वोत्कृष्ट रचना

है। जोधपुर के महाराज अभयसिंह के लिए करणीदान ने सूरज-प्रकाश और वीरभाण ने राजरूपक नामक दो लम्बे वीर-काव्य रचे। कृपादान ने अपने चाकर राजिया को सम्बोधन करके दूहे लिखे जो राजिया-रा दूहा नाम से बहुत लोकप्रिय हुए। गाडण गोपीनाथ ने बीकानेर महाराजा गजसिंह के लिए गज-रूपक लिखा। सेवग मनसाराम ने रघुनाथ-रूपक की रचना की जिसमे डिंगल के गीतो, छन्दो और अलकारो के विवेचन के साथ राम की कथा कही गई है। कविया रामनाथ का द्रौपदी-करुणा बत्तीसी करुण रस की बड़ी ललित लघु-रचना है। आढा ओपा ने भक्ति और वैराग्य के गीत लिखे जो बड़े ही भावपूर्ण है। उत्तर-काल में जोधपुर का आसिया बाँकीदास और बूंदी का मीसण सूर्यमल्ल दो बहुत बड़े लेखक हुए। बाँकीदास अपने समय का बहुत बडा विद्वान और इतिहासकार था। उसकी सबसे महत्वपूर्ण रचना ख्यात है जो गद्य मे है। अनेक छोटे-मोटे काव्य और प्रकीर्णक गीत भी उसने लिखे। इस समय अँग्रेज अपना विस्तार राजस्थान में कर रहे थे। राजस्थान के राजाओ को बिना युद्ध के आत्म-समर्पण करते देख स्वातन्त्र्य-प्रेमी चारणो को बडी खीज हुई और उन्होने राजाओं को फटकारते हुए बहुत सी प्रकीर्णक रचनाएँ लिखी। अँग्रेजो से लडने के कारण मराठो की उन्होने प्रशसा भी की।

मीसण सूर्यमल्ल को चारण सबसे बडा चारण-कवि मानते हैं और उसमे कविता की इति-श्री समझते हैं। उसकी विद्वता और

बहुज्ञता अद्वितीय थी जिसका प्रदर्शन उनके महा-काव्य वंश-भास्कर में खूब हुआ है। वंश भास्कर लगभग दो हजार पृष्ठों का वृहद् काव्य है जिसमें बून्दी के राजाओं का इतिहास है। यह ग्रन्थ राजस्थानी का नहीं किन्तु पिंगल (व्रजभाषा) का है, पर बीच-बीच में राजस्थानी और संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा अपभ्रंश को भी स्थान मिला है। वीर-सतसई उसकी दूसरी रचना है जो राजस्थानी में है। यह ग्रन्थ अधूरा है। इस समय ३०० से अधिक दूहे नहीं मिलते। यह बड़ी ओजस्विनी कृति है।

इनके अतिरिक्त हजारों दोहे और गीत भी लिखे गये जो विभिन्न भंडारों की पोथियों में बिखरे पड़े हैं। गीत अधिकांश में युद्धों में जूझने वाले वीरों की स्मृति रूप में लिखे गये। हजारों वीरों की स्मृति को इन गीतों ने सुरक्षित रखा है जब कि समय और जनता दोनों ही उनको भूल चुके हैं। राजिया के अतिरिक्त किसनिया, भैंरिया, जेठवा, नागजी आदि को संबोधन करके लिखे हुए दोहे अब भी जनता के हृदयों में घर किये हुए हैं। इनमें काव्य की दृष्टि से जेठवा के दूहे विशेष महत्वपूर्ण हैं। उनके पीछे एक बड़ी करुण प्रेम-कथा है। उनकी रचना उजली नामक चारणी ने जेठवा को संबोधन करते हुए की थी।

(३)

गद्य-साहित्य

राजस्थानी का प्राचीन गद्य जैन-लेखकों का लिखा हुआ

है। अब तक प्राप्त उदाहरणों में सबसे प्राचीन उदाहरण सं. १३३० का है। संग्रामसिंह की बाल-शिक्षा (१३३६) संस्कृत का एक बालोपयोगी व्याकरण है जिसमें उदाहरण, तथा शब्दों और प्रयोगों के अर्थ राजस्थानी में दिये हुए हैं। इस प्रकार की रचनाएँ आगे चलकर औक्तिक कहलायी। ऐसी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई है जिनमें सबसे महत्वपूर्ण कुलमडलन का मुग्धावबोध-औक्तिक (१४५०) है। इनसे उस समय की बोलचाल की भाषा पर अच्छा प्रकाश पडता है।

इस काल में जैन-साधुओं ने जैन-धर्म के उपदेशों को लोकप्रिय बनाने के लिए धर्मकथाएँ लिखी। गद्य के विकास में इन धर्म-कथाओं का बडा हाथ रहा है। ये कथाएँ अधिकाश में जैन-धर्म के प्रमुख धार्मिक ग्रथों की व्याख्याओं के साथ, मूल पद्यों में कथित सिद्धान्तों के उदाहरण-रूप में, लिखी गयी। ऐसी कहानियों वाली व्याख्याएँ बालावबोध नाम से प्रसिद्ध हुई। सबसे प्राचीन बालावबोध खरतरगच्छीय तरुणप्रभा सूरि का षडावश्यक-बालावबोध है जिसकी रचना स. १४१२ में हुई। इस प्रकार तरुणप्रभा सूरी राजस्थानी के सर्वप्रथम प्रौढ गद्यकार है। अन्य बालावबोध-कारों में सोमसुन्दर सूरि (१४३०–१४९९), मेरुसुन्दर और पार्श्वचद्र के नाम उल्लेखनीय है। सोमसुन्दर सूरि तपागच्छ के आचार्य थे और मेरुसुन्दर खरतर गच्छ के।

धर्मकथाओं में सबसे महत्वपूर्ण माणिक्यचन्द्र सूरि का पृथ्वीचन्द्र-चरित्र (१४७०) है जिसका दूसरा नाम वाग्विलास

है। यह एक प्रौढ कलात्मक कृति है। भाषा सगीतमयी है, और वाक्य अत्यानुप्रास पूर्ण (मतुकात) हैं। चारणी साहित्य मे ऐसी अन्त्यानुप्रास-युक्त वाक्यों वाली रचना को वचनिका और दवावैत कहा गया है। वचनिकाओ मे दो बहुत प्रसिद्ध हैं। एक शिवदास कृत अचलदास-खीची-री वचनिका, जिसमे गगरोनगढ के खीची (चौहान) वशीय राजा अचल दास के वीरतापूर्ण युद्ध और अन्त का वर्णन है और जिसकी रचना पद्रहवी शताब्दी के चतुर्थ चरण मे हुई, तथा दूसरी खिडिया जग्गा को राठौर रतन महेसदासोत-री वचनिका, जिसमे औरगजेब और जसवतसिंह के बीच होने वाले उज्जैन के युद्ध (१८१३) मे राठौर रतनसिंह के वीरता-पूर्ण युद्ध और मरण का वर्णन है। ये वास्तव मे चपू-काव्य हैं जिनमे गद्य के साथ पद्य भी मिलता है। देवावैतो मे भाटा मालीदास कृत नरसिंह दास-गौड-री दवावैन प्रसिद्ध है जिसकी १८ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लिखित प्रति प्राप्त हुई है। जैन-लेखको ने भी वचनिकाएँ और दाववैतें लिखी हैं। सोलहवी शताब्दी की दो ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमे एक खरतर-गच्छीय जिनसमुद्र सूरि और राव सातल के विषय मे है और दूसरी खरतर गच्छीय शान्तिसागर सूरि के विषय मे। स० १७७२ मे उपाध्याय रामविजय ने जिनसुख-सूरि दवावैन की रचना की, जिसका दूसरा नाम 'मजलस' भी है। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे वाचक विनयभक्ति ने जिननाम-सूरि दवावैन लिखी।

राजस्थानी गद्य का दूसरा महत्वपूर्ण रूप ऐतिहासिक साहित्य है। राजस्थानी मे यह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। भारत के सुदूर पश्चिम की राजस्थानी के साथ सुदूर पूर्व की असमिया ही ऐसी भाषा है जिसमें प्राचीन ऐतिहासिक गद्य मिलता है और प्रचुर मात्रा मे मिलता है। यह ऐतिहासिक गद्य ख्यात, वात, जीवनी, आख्यान, वंशावली, पट्टावली, पीढियावली, दफ्तर, वही, विगत, हगीगत आदि विविध रूपो में मिलता है। बात मे किसी ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति या स्थान का इतिहास सक्षेप मे होता है। ख्यात मे या तो वातो का संग्रह होता है या संलग्न इतिहास होता है। ख्यात-कारों मे सर्वप्रमुख नैणसी, बाकीदास और दयालदास हैं। नैणसी जैन ओसवाल था और जोधपुर के महाराज जसवन्तसिह का दीवान था। उसे राजस्थान का अबुलफ़ज़ल कहा गया है। उसकी ख्यात मे राजस्थान के विविध राजपूत राजवशो का इतिहास है। उसने जोधपुर राज्य का एक सर्व-संग्रह भी लिखा था। बाकीदास की ख्यात मे २५०० से ऊपर वातों का सग्रह है। ये वातें नैणसी की ख्यात की वातो से भिन्न प्रकार की हैं। ये बहुत छोटी-छोटी टिप्पणियों के रूप मे हैं, अधिकांश एक-एक या दो-दो पंक्तियो की ही हैं। इसमें राजस्थान के तथा बाहर के राजपूत राजाओं और ठिकानेदारों के तथा मुसलमानों, मराठो और सिखों के तथा ओसवाल आदि अनेक जातियों के इतिहास से संबंधित सामग्री तथा भारत के अनेक

नगरो के भौगोलिक विवरण सग्रहीत हैं। दयालदास की ख्यात मे बीकानेर के राठौड़ राजवश का प्रारम्भ से सलग्न इतिहास दिया हुआ है। राजस्थानी-गद्य की दृष्टि मे उक्त *तीनों ख्यात बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उनमे राजस्थानी के प्रौढ गद्य* के दर्शन होते हैं। दलपतिविलास मे बीकानेर के महाराज-कुमार दलपतसिंह का जीवन-चरित्र है। ग्रन्थ मे तत्कालीन इतिहास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री है, पर दुर्भाग्य मे ग्रन्थ अपूर्ण है।

ग्राख्यानो मे इतिहास के साथ लोक-कल्पना ग्रोर अलौकिक घटनाग्रो का भी मिश्रण हो रहा है। वशावली ग्रोर *पीढियावली मे राजाग्रो ग्रादि की पीढियो का क्रमिक वर्णन* होता है, बीच-बीच में उल्लिखित व्यक्तियो से सम्बन्धित ऐतिहासिक टिप्पणियाँ भी रहती हैं। दफ्तर में डायरी की शैली मे घटनाग्रो का विवरण रहता है।

ऐतिहासिक गद्य जैनो ने भी ग्रच्छी मात्रा में लिखा है।

राजस्थानी गद्य का तीसरा महत्वपूर्ण रूप वार्ता ग्रयवा कहानियो का साहित्य है। इन कहानियो के सैकड़ो सग्रह मिलते हैं जिनमें हजारो कहानियाँ हैं—धर्म की ग्रोर नीति की, वीरता की ग्रोर प्रेम की, हास्य की ग्रोर करुणा की, राजाग्रो की ग्रोर प्रजा की, देवताग्रो की ग्रोर भूत-प्रेतो की, चोरो की ग्रोर डाकुग्रो की, ग्रादर्शवादी ग्रोर यथार्थवादी, लोक कथाएँ ग्रोर कलाकृतियाँ, साराश यह है कि सभी प्रकार की हैं। कुछ प्रमुख ग्रोर विशेष प्रसिद्धि-प्राप्त कहानियो के नाम इस प्रकार हैं—राजा

भोज, माघ पंडित और डोकरीरी बात: राजा भोज और खाफरै चोररी बात, सयणी चारणीरी बात, फोफाणदरी बात, जसमा ओडणीरी बात, चदण और मलियागिरी री बात; चोबोलीरी बात, जसमा ओडणीरी बात. ऊमा भटियाणीरी बात, मूमलमहदर्ररी बात, पलक दरियावरी बात, राजकुमार कुतुबदीरी बात, खुदाय बावलीरी बात। पचतन्त्र, सिंहासन-बत्तीसी, बेताल-पच्चीसी आदि के अनुवाद भी हुए।

कलात्मक गद्य की कृतियो में खीची गगेव नीबावत रो दोपहरो उल्लेखनीय है। राजन रावतरो बात-वणाव, सभाशृगार, मुत्कलानुप्रास, कौतूहल, भोजन-विच्छित्ति ग्रथो मे विविध विषयक वर्णनो के सुन्दर-सुन्दर संग्रह है। बात-वणाव मे विविध वर्णनो को बड़े कलापूर्ण ढग से कथारूप मे ग्रथित किया गया है। तुकान्त-गद्य इन सबकी एक प्रमुख विशेषता है। वचनिकाएँ और दवावैतें भी इस प्रकार की रचनाएँ है जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है।

—नरोत्तमदास स्वामी

वर्तमान युग में सत्य-शिव-सुन्दर कला और साहित्य जगत का आदर्श वाक्य बना हुआ है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद् वाक्य का सा महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में यह साहित्य-ससार का महा-वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातूं द्वारा प्रतिपादित The True, The Good, The Beautiful का शाब्दिक अनुवाद है। वह इतना सुन्दर है कि हमारी देशी-भाषाओं में घुलमिल गया है। इसमें विदेशीपन की गध तक नही आती। इसका एक मात्र कारण यह है कि यह भारतीय भावना के अनुकूल है। भारतवर्ष में यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। वाणी के तप का उपदेश देते हुए योगिराज भगवान कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में अर्जुन को बतलाया है कि ऐसे वाक्य का बोलना जो दूसरों के चित्त में उद्वेग न उत्पन्न करे, सत्य हो, प्रिय और हितकर हो तथा वेद शास्त्रों के अनुकूल हो, वाणी का तप कहलाता है, देखिये —

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

'सत्य-प्रिय-हित' सत्य-शिव-सुन्दरम् का ठेठ भारतीय रूप है। वाणी का तप होने के कारण साहित्य का भी आदर्श है। 'किरातार्जुनीय' में हित और सुन्दर का योग बड़ा दुर्लभ बतलाया है--काव्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है। सत्य और शिव का समन्वय करते हुये कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'दादू' नाम के एक बंगाली ग्रंथ की भूमिका में लिखा है 'सत्य की पूजा सौंदर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।' विष्णु तो सत्य के साथ शिव भी है। इसीलिये तीनों ही कारणों का समन्वय हो जाता है। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हंसवाहिनी माता शारदा का ध्यान 'वीणा-पुस्तक-धारिणी' के रूप में होता है। हंस नीर-क्षीर विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक है और वीणा सुन्दरम् का प्रतिनिधित्व करती है, पुस्तक सत्य और हित दोनों की साधिका कही जा सकती है।

सत्य-शिव-सुन्दरम् का संबंध ज्ञान, भावना और संकल्प नाम की मनोवृत्तियों तथा ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, और कर्ममार्ग से है। सत्य-शिव-सुन्दरम् विज्ञान, धर्म और काव्य के पारस्परिक संबंध का परिचायक सूत्र भी है। विज्ञान का ध्येय है सत्य, केवल सत्य, निरावरण सत्य। शिव उसके लिये गौण है, विज्ञान ने पेंसिलीन की भी रचना की है और परमाणु बम को बनाया है। सुन्दरम् तो उसके लिये उपेक्षा की वस्तु है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परिणाम के ही रूप में देखता है। उसके लिए वीभत्स कोई अर्थ नहीं रखता।

धार्मिक सत्य मे शिव की प्रतिष्ठा करता है। वही लक्ष्मी जी का मागलिक घटो से अभिषेक करता है क्योकि जल जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है और मानव मागल्य का प्रतीक है। जिस प्रकार सरस्वती मे सत्य और सुन्दरम् का समन्वय है, उसी प्रकार लक्ष्मी मे शिव और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है। वेदो मे 'शिव सकल्पमस्तु' का पाठ पढाया जाता है और शिव कल्याण या हित के नाते ही महादेव के नाम से अभिहित होते हैं। धार्मिक शिव के ही रूप मे सत्य के दर्शन करता है।

साहित्यिक सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य का स्वर्णावरण पहना कर ही उनकी उपासना करता है। 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुप बाण लेहु हाथ'—साहित्यिक के हृदय मे रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक की दृष्टि मे सत्य-शिव-सुन्दरम् मे एक-एक भाव को यथाक्रम उत्तरोत्तर महत्ता मिलती है। वह सच्चिदानद भगवान् के गुणो मे अन्तिम गुण को चरम महत्त्व प्रदान करता है। 'रसो वै स'—सत्यनारायण भगवान् की वह रस रूप मे ही उपासना करता है। सत्य, शिव और सुन्दरम् की त्रिमूर्ति मे एक ही सत्य रूप की प्रतिष्ठा है। सत्य कर्तव्य-पथ में आकर शिव बन जाता है और भावना से समन्वित हो सुन्दरम् के रूप में दर्शन देता है। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित रूप है। सौन्दर्य सत्य को ग्राह्य बनाता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तीनो मे एक ही रूप के दर्शन किये हैं—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय मे बनता प्रणय अपार,
लोचनो मे लावण्य अनूप,
लोक-सेवा मे शिव अविकार।

अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य करते हुए कहा है कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही मनुष्य जानता है और यह जानने की आवश्यकता है।

सत्य और सुन्दर का तादात्म्य या समन्वय भी सम्भव है, इसमें कुछ लोगो को सदेह है। बिना काट-छाँट के सत्य सुन्दर नही बनता। कला मे चुनाव आवश्यक है। कलाकार सामूहिक प्रभाव के साथ ब्योरे का भी प्रभाव चाहता है और ब्योरे को स्पष्टता देने के लिए काट-छाँट आवश्यक हो जाती है। इसके विपरीत कुछ लोग यह कहेंगे कि सत्य मे ही नैसर्गिक सुन्दरता है। साहित्यिक ससार को जैसा का तैसा नही स्वीकार करता। विश्व उसको जैसा रुचता है वैसा उसको वह परिवर्तित कर लेता है। शकुन्तला को दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से नही स्वीकार किया, किन्तु लोकापवाद की भावना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। वास्तविकता और आदर्श मे समन्वय के अर्थ कविवर कालिदास ऋषि दुर्वासा के शाप की उद्भावना करते हैं। अगूठी के खो जाने को दुष्यन्त की विस्मृति का कारण बतला कर कवि ने प्रेम की रक्षा के साथ घटना के सत्य का भी तिरस्कार नही किया। दुष्यन्त उसको स्वीकार नही करता है किन्तु वह अपने

भाव की भी हत्या नही करता।

क्या अपनी रुचि के अनुकूल ससार को वदल लेने को ही कविकृत सत्य की उपासना कहेगे ? कवि सत्य की उपेक्षा नही करता वरन् सत्य के अन्तस्तल मे प्रवेश कर वह उसे भीतर से देखता है। कवि भाव-जगत् का प्राणी है; वह घटना के सत्य की उपेक्षा कर भावना के ही सत्य को प्रधानता देता है। वह प्रकृति की मक्खीमार अनुकृति नही चाहता। वह यांत्रिक अर्थात् फोटोग्राफी के सत्य का पक्षपाती नही। वह न ऐतिहासिक है, न वैज्ञानिक। ये दोनो ही घटना के सत्य का आदर करते हैं। ये प्रत्यक्ष और ज्यादा-से ज्यादह अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। कवि रवि की पहुँच से भी वाहर हृदय के अतस्तल मे प्रवेश कर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करता है। कवि शाब्दिक सत्य के लिए विशेप रुप से उत्सुक नही रहता, घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है किन्तु उसे वह सुन्दरम् के शासन मे रखना कर्त्तव्य समझता है। लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर गोस्वामीजी मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी से कहलाते हैं— 'निज जननी के एक कुमारा', 'मिलहि न जगत् सहोदर भ्राता', 'पिता वचन मनतेउ नहि ओहू।' इनमे से कोई वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नही उतरता, किन्तु काव्य मे इनका वास्तविक सत्य स भी अधिक महत्व है। कभी-कभी झूठ मे ही सत्य की अधिक अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। लक्ष्मणजी का निज जननी के 'एक कुमारा' से अधिक महत्व था, क्योकि

वे त्यागी, तपस्वी और कर्त्तव्यपरायण थे। राम का नाम उन पर स्नेह महोदर भ्राता से भी अधिक था और वह उनके लिए आदर्शों का भी बलिदान करने को प्रस्तुत थे। यह स्नेह की पराकाष्ठा थी।

फिर कवि के लिए सत्य का क्या अर्थ है? कवि एक और एक दो के सत्य में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में एक और एक, एक ही रह सकते हैं और तीन भी हो सकते हैं। सत्य को ध्रुव, निश्चित,प्रगतिशील,सीमाओं मे नहीं बाँधा जा सकता है, न वह फोटो-कैमरा के निष्क्रिय सत्य का उपासक है। वह मानव हृदय के जीते-जागते सत्य का पुजारी है। उसके लिए विचारों की आन्तरिक और वाह्य संगति ही सत्य है। वह जन साधारण के अनुभव की अनुकूलता एवं हृदय और विचार के साम्य को ही सत्य कहेगा। वह हृदय की सचाई को महत्त्व देगा। वह अपने हृदय को धोखा नहीं देता। उसकी भावना के सत्य और सौंदर्य में सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साहित्यिक सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता है। कवि सम्भावना के क्षेत्र के बाहर नहीं जाता है, उसके वर्णित विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक संसार में घटित हुआ हो किन्तु वह असम्भव न हो। 'होरी' नाम का किसान किसी गाँव विशेष मे रहता हो या न रहता हो किन्तु उसने जो कुछ किया वही किया जो साधारणतया उसकी जाति के लोग करते हैं। वह इतिहास के नामों और तिथियों को

महत्व न देता हुआ भी पूर्वापर-क्रम से बँधा रहता है। वह अकबर को औरंगजेब का बेटा नहीं बना सकता। वातावरण का भी उसे ध्यान रखना ही पड़ता है। हाँ, ब्योरे की बातों में वह भावोद्घाटन की आवश्यकताओं के अनुकूल मनचाहा उलट-फेर कर लेता है। मनुष्य में संकल्प की स्वतन्त्रता में विश्वास करता हुआ वह उसके कार्यक्रम में भी उलट-फेर कर लेता है। एक स्थिति में कई मार्ग खुले रहते हैं। कवि को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि उनमें से वह किसी को अपनावे, किन्तु प्रकृति के क्षेत्र में वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि वह धनियाँ और धान, सरसों और ज्वार को एक साथ खड़ा करदे अथवा केशर को चाहे जहाँ उगा दे (जैसा केशव ने किया)। जिन बातों में कवि लोगों का समझौता रहता है उनके प्रयोग में उस सत्य की परवाह नहीं रहती है। कवि अपनी रुचि के अनुकूल चित्र के ब्योरे को उभार में लाने के लिये वास्तविक संसार में काट-छाँट करता है और कूड़े-कर्कट को साफ कर असली स्वर्ण को सामने लाता है। वह अदालती गवाह की भाँति सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं कहने की विडम्बना नहीं करता। जिस दृष्टि-कोण से सत्यदेव की सुन्दर से सुन्दर और स्पष्ट से स्पष्ट झाँकी मिल सकती है उसी कोने पर वह पाठक को लाकर खड़ा कर देता है। इसलिए वह सत्य के सुन्दरतम रूप दिखाने के लिये थोड़ा माया-जाल रचे या चमत्कार के साधनों का प्रयोग करे तो वह अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाता। इस बात का उसे ध्यान

रखना पड़ता है कि उसका सत्य लोक में प्रतिष्ठित सत्य के साथ मेल खा सके। सत्य भी सामंजस्य का ही रूप है। वैज्ञानिक और साहित्यिक के सत्य में इतना अन्तर अवश्य है कि दृष्टा की मानसिक दशा के कारण जो अन्तर पड जाता है उसे वैज्ञानिक स्वीकार नही करता है और यदि स्वीकार भी करता है तो प्रमत्त के प्रलाप के रूप मे। भाव-प्रेरित होने के कारण साहित्यिक प्रमत्त-प्रलाप का भी आदर करता है, साहित्यिक झूठ मे भी सत्य के दर्शन करता है। विरह-व्यथित नायिका के भ्रम का भी उसके हृदय मे मान है—

> बिरह जरी लखि जीगननि, कह्यौ न बहिकै बार।
> अरी आउ भजि भीतरै, बरसत आजु अगार॥

शिव क्या है और अशिव क्या है? शिव के साथ ही मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है। आजकल मूल्य को इतना महत्व दिया जाता है कि व्यावहारिक उपयोगितावादी (Pregmatists) सत्य की भी कसौटी उपयोगिता ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में साहित्यिक सङ्कुचित उपयोगितावादी नहीं है। वह रुपये-आना-पाई का विशेषकर अपने सम्बन्ध मे लेखा-जोखा नही करता। वह अपने को भूल जाता है, किन्तु हित के रूप में मतभेद है। कोई तो केवल आर्थिक और भौतिक हित को ही प्रधानता देते हैं (जैसे प्रगतिवादी) और कोई उसकी उपेक्षा कर आध्यात्मिक हित को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। वास्तव मे पूर्णता मे ही आनन्द है। 'भूमा वै सुखम्'—व्यक्ति की भी पूर्णता समाज मे

है, इसीलिये लोकहित का महत्व है। 'हित' वही है जो लोक (यहाँ लोक का अर्थ परलोक के विरोध मे नही है) को बनावे और लोक को बनाने का अर्थ है व्यक्तियों की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों मे सामजस्य स्थापित कर उनको सुसगठित और सुसम्पन्न एकता की ओर ले जाय। भेद में अभेद यही सत्य का आदर्श है और यही शिव का भी मापदण्ड है। भेद मे अभेद की एकता ही सम्पन्न एकता है। विकास का भी यही आदर्श है—विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ अधिक से अधिक सहयोग और सगठन। जो साहित्य हमको इस ओर अग्रसर करता है वह शिव का ही विधायक है। इस हित के आदर्श मे सौंदर्य को भी स्थान है। भारतीय सस्कृति मे धर्म, अर्थ और काम तीनो को ही महत्व दिया गया है, तीनो का सतुलन और अविरोध वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का आदर्श, वही मोक्ष और आनन्द का विधायक होता है।

सुन्दर क्या है ? इसका भी उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना कि शिव और सत्य का। कुछ लोग तो सौंदर्य को विषयीगत ही मानते हैं—'समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय। मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय।' कुछ लोग उसे विषयगत बतलाते हैं और कुछ उसे उभयगत कहते हैं। 'रूप रिझावनहार वह ए नैना रिझवार।' रवि बाबू ने रमणी-सौंदर्य को आधा सत्य और आधा स्वप्न कहा है। आजकल अधिकाश लोग सौंदर्य को विषयगत मानते- हुये भी व्यक्ति पर पड़े हुए

उसके प्रभाव का ही अधिक विवेचन करते हैं। कवियो की वाणी मे प्राय. प्रभावो का ही वर्णन होता है। यह प्रभाव जड-चेतन-जगत तक व्याप्त दिखाया जाता है।

यहाँ पर सौंदर्य की कुछ परिभाषाओं से परिचय प्राप्त कर लेना वाछनीय है।

हमारे यहाँ सौंदर्य या रमणीयता की जो परिभाषा अधिक प्रचलित है, वह इस प्रकार है –

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैतित देव रूपं रमणीयताया

अर्थात् क्षण क्षण में जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। बिहारी की नायिका का चित्र न बन सकने और 'गहि-गहि गरब गरूर' आए हुये चित्रकारो को 'कूर' बनने का एक यह भी कारण था कि क्षण-क्षण के नवीनता धारण करने वाले रूप को वे पकड नही सकते थे। इस परिभाषा मे वस्तु को प्रधानता दी गई है।

काव्य मे जो माधुर्य गुण माना गया है उसका साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रकार लक्षण दिया है –

'चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते।'

अर्थात् चित्त के पिघलाने वाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। आह्लाद क्रूर और नृशंस का भी हो सकता है, जैसे कि रोमन लोगो को निहत्थे मनुष्यों को शेर से लड़वाने मे आता था, किन्तु माधुर्य आह्लाद सात्विक आह्लाद है। कुमारसम्भव मे कहा है कि सौंदर्य पाप-वृत्ति की ओर नही जाता है। यह

वचन अव्यभिचारी है अर्थात् सत्य ही है। सच्चा सौंदर्य स्वय पाप-वृत्ति की ओर नही जाता और दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है। सौंदर्य मे सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है।

सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद को पाना नहीं चाहता है, वरन् अपने को उसमे खोना चाहता है। रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल मे उछलने वाली मछली का सौंदर्य निरपेक्ष दृष्टा ही देख सकता है उसको पकडने की कामना करने वाला मछुआ नही; किन्तु वह निरपेक्ष दृष्टि बड़ी साधना से आ सकती है। कुमारसम्भव मे तो श्मशानवासी भूत-भावन मदनमर्दन भगवान शिव की भी यह निरपेक्ष दृष्टि नही रही है फिर साधारण मनुष्यो की बात कौन कहे ? किन्तु नितान्त निरपेक्ष दृष्टि न रखते हुये भी वासना मे इसी प्रकार की सात्विकता उत्पन्न कर देता है। कोई-कोई साहित्यिक आचार्य तो माधुर्य को उत्पन्न करने वाले अक्षर-विन्यास पर उतर आये, वास्तव मे तो माधुर्य का सम्बन्ध चित्त से ही है। काव्य-प्रकाशकार ने यह भी दिया है—'न तु वर्णाना' अर्थात् वर्णों से नही। माधुर्य जहाँ स्वामी होकर रहता है वहीं रमणीयता आ जाती है। तभी उसमे क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करने की शक्ति रहती है। सुन्दर वस्तु मे रमणीयता प्रत्येक अवस्था मे रहती है उसको बाहरी अलकारो की जरूरत नहीं होती।

चित्त के द्रवणशील आह्लाद के माधुर्य की व्याख्या मे हम

सात्विकता की उस दशा के निकट आ गये हैं जिनमे सौंदर्य का अनुभव करनेवाला, सुन्दर वस्तु के रसास्वाद मे अपने को खो देता है। इसी बात को आचार्य शुक्लजी ने भी लिखा है, वे लिखते हैं–

'कुछ रूप-रग की वस्तुएं ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप मे ही परिणित हो जाते हैं। हमारी अन्त-सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान व भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।'

यह व्याख्या प्रभाव-सम्बन्धी है किन्तु भारतीय सात्विकता को लेकर चली है। यह तादात्म्य की बात साधारणीकरण से सम्बन्ध रखती है। सौंदर्य पाठक और कवि के हृदय मे तदाकार वृत्ति उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

सौंदर्य की और भी परिभाषाएं और व्याख्याएं हैं। कुछ लोग तो सौंदर्य की पूर्णता को मानते हैं। कुछ लोग सामजस्य सतुलन और एकरसता को प्रधानता देते हैं। वस्तु का सामजस्य हमारे मन में भी उसी सामजस्य को उत्पन्न कर देता है, उससे हमारी विरोधी मनोवृत्तियो में और प्रवृत्तियो मे साम्य उत्पन्न हो जाता है।

कुछ आचार्यो ने सौंदर्य मे उपयोगिता को महत्त्व दिया है। उनके मत से उपयोगिता पर ही सौंदर्य आश्रित है। हर्बर्ट

स्पेन्सर इसी मत के थे। कालिदास ने जो दिलीप के सौंदर्य का वर्णन किया है उसमे उपयोगिता का भाव लग जाता है किन्तु सब जगह नही। हर जगह उपयोगिता काम नही देती। यद्यपि हम सौंदर्य मे सुकुमारता (गुलाब के फूल के झाँमे से एड़ी को घिसने पर एड़ी लाल हो जाने वाली सुकुमारता) के पक्ष मे अधिक नहीं हैं फिर भी उसका मूल्य है। सौंदर्य ही स्वय उसकी उपयोगिता है।

सौंदर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिय्र अमरता गरल सराहिय्र मीचु।'—यह भी उपयोगिता का रूप है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला या सौंदर्य माना है। वह सफल विशेषण भी नही जोड़ना चाहता, क्योकि असफल अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नही है। यह परिभाषा कलाकृतियो पर ही अधिक लागू होती है। इन परिभाषाओ से हम इस तथ्य पर आते हैं कि सौंदर्य का गुण किसी अंश मे वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्‌गत गुणो, रेखाओ आदि के सामजस्य पर निर्भर है। इन गुणो, रूपो आदि का जितना सामजस्यपूर्ण बाहुल्य होगा उतनी ही वह वस्तु सुन्दर होगी (क्रोचे ने सौंदर्य मे श्रेणी-भेद नही माना है, वह असुन्दर की ही श्रेणियाँ मानता है।)। उसकी विषम-गणना ही लोकरुचि का निर्माण करती है। वैयक्तिक रुचि यदि विरुद्ध हो तो उसकी सराहना नहीं की जाती—

सीतलताऽरु सुबास की, घटै न महिमा मूर।
पीनस वारें जो तज्यौ, सोरा जानि कपूर॥

इसी के साथ सौन्दर्य का विषयीगत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौन्दर्य का प्रभाव भी विषयी पर ही पडता है, इसलिये उसकी भी उपेक्षा नही की जा सकती।

सौन्दर्य वाह्य रूप मे ही सीमित नही है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणो की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव मे सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे एक दूसरे के अथवा अनेकता मे एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता मे एकता है, शिव कर्मक्षेत्र की अनेकता की एकता का रूप है। सौन्दर्य भाव क्षेत्र का सामजस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणो व रूपो के ऐसे सामजस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावो में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय कर ले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिये जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती है वह सामजस्य आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामजस्य ही है उसमे न तमोगुण की सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की सी उत्तेजित सक्रियता। समन्वित सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि

करना कवि और कलाकार का काम है। ससार मे इसी सौन्दर्य की कमी नही। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डाल कर जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देता है।

कवि जहाँ पर सामजस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोडी काट-छाँट के साथ सामजस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामजस्य पाठक व श्रोता के मन मे समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौन्दर्य की इतनी विवेचना करने पर भी उसमे कुछ अनिर्वचनीय तत्व रहता है, जिसके लिये बिहारी के शब्दो मे कहना पडता है 'वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान।' इसी अनिर्वचनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना और रुचि को महत्व मिलता है।

—गुलाबराय

परिशिष्ट

बालकृष्ण भट्ट

संयोगतः उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चेतना से प्रबुद्ध व प्रेरित होकर साहित्य-वेत्ताओं का एक मंडल अनायास ही संगठित हो गया था। यह भारतेन्दु-मण्डल एक संगठित रूप में गौरव-मंडित है, तो उसका प्रत्येक सदस्य भी अपने आप में महीयान् है। बालकृष्ण भट्ट उसी मण्डल के एक महा-भट्टराजवत् थे।

इस युग में साहित्य के विभिन्न अंगों का संवर्द्धन हुआ और विशेष रूप से माध्यम रही हिन्दी-भाषा पद्य में तो फिर भी व्रज-भाषा की माधुरी युगीन कलाकारों को विमोहित किये रही, पर गद्य साहित्य तो हिन्दी में जीवन के विस्तृत क्षेत्र से अपने उपकरणों का चयन कर नव नव रूपों में प्रकट होने लगा। आधुनिक निबन्ध गद्य-रचना है, पर वह कोरा गद्य नहीं है। महासागर जैसा एक सीमा में बंधा अपने उन्मुक्त व उत्फुल्ल भाव वैभव तथा संतुलित व संश्लिष्ट रूप-वैशिष्ट्य में लीलामय होता है, वैसे ही निबंध का गठन लेखक के उदात्त फिर भी उन्मुक्त व्यक्तित्व की प्रकाश-रेखाओं में जटित होता है। बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु-मण्डल के एक कुशल निबन्धकार थे।

---

*'लेखक-जीवन-परिचय' के सम्बन्ध में हम श्री विष्णु अम्बालाल जोशी के कृतज्ञ हैं—सम्पादक।

भारतेन्दु मण्डल की एक प्रमुख प्रवृत्ति के अनुरूप ही बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र का सम्पादन किया और उसी के द्वारा वे अपने साहित्य के निर्माण-कार्य में संलग्न हुए तथा अन्य दूसरों के लिए स्वयं प्रेरक-बिन्दु बने। अपने दीर्घकालीन जीवन-क्रम में भट्टजी ने अनेक उपन्यास, नाटक, और निबन्ध आदि रचकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया, पर उनका निबन्ध-साहित्य ही केवल उनकी विमल-कीर्ति को चिरस्थाई बनाने में पर्याप्त है।

भट्टजी अपने युग के एक प्रौढ़ निबन्धकार थे। संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् तथा अन्य भाषाओं के जानकार होने के कारण उनका अध्ययन तथा चिन्तन उनके व्यक्तित्व को एक अद्भुत क्षमता प्रदान कर गया है। उनके निबन्धों में वही क्षमता प्रतिबिम्बित है। वैसे भारतेन्दु-मण्डल के अन्य निबन्धकारों—प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि की भांति 'मन की मौज' उनमें भी कम नहीं है, पर वह जैसे अदम्य वेग व शक्ति से मुक्त होकर सुस्थिर तथा समृद्ध हो गई है। उनके निबन्ध इस मन्थन की प्रक्रिया में अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक, भावप्रवण, तथा विचारात्मक हो गए हैं। उनकी भाषा चुस्त, प्रवहमान तथा परिष्कृत है और शैली व्यंग्य, वक्रता, विनोद तथा ध्वनि से सम्पन्न समास-प्रधान है जो वर्ण्य-वस्तु को सहज ग्राह्य बनाने में सक्षम है।

'आशा' मनोवैज्ञानिक रचना का एक सुन्दर दृष्टान्त है। वैसे आशा का अंकन उस मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से नहीं हुआ जैसा कि बाद में, रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में लक्षित होता है, फिर भी जिस ढंग से बालकृष्ण भट्ट इस मनोवृत्ति का स्वरूप दर्शन करा जाते हैं वह अपने में एक सहृति, एक प्रभविष्णुता तथा मोहकता रखता है। इस संसार में युग-युग से मानव के द्वारा जो कुछ सृष्ट हो रहा है और होगा उन सब उपलब्धियों के भीतर अवश्य ही यह आशा-बिन्दु रमण करता रहेगा।

टिप्पणियाँ—

काम के पर्यायवाची शब्द—रतिपति, मन्मथ, मार, प्रद्युम्न, मदन, अनंग, पंचशर, शम्बरारि, मीनकेतन, मनसिज, पुष्पधन्वा, आत्मभू आदि।

काम का स्वरूप.

(अ)—'काममय एवायं पुरुषः'

—वेद

(आ) "हम भूख प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में,
रति-काम बने उस रचना में,
जो रही नित्य यौवन वय में।"

× ×

"मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको।" —प्रसाद

इसी काम को आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'लिबिडो' कहते हैं और फ्रायड आदि मनस्तत्व के आचार्यों ने उसको जीवन की संचालिका-वृत्ति माना है। वस्तुतः काम ही संकल्प है जिसके बिना कोई भी स्पन्दन सम्भव नहीं है। काम से ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है।

आशा का स्वरूप

"सौर-चक्र में आवर्तन था,
प्रलय निशा का होता प्रात।"

—चिंता-सर्ग, कामायनी।

यह क्या मधुर-स्वप्न-सी झिलमिल,
सदय हृदय में अधिक अधीर,

व्याकुलता-सी व्याप्त हो रही
आशा बनकर प्राण समीर।"

—आशा-सर्ग, कामायनी।

स्वेच्छया—अपनी इच्छा से, अपरिहार्य—अवश्यम्भावी, रजु—प्रकृत, पुरई—वनरद्धक औषध।

बालमुकुन्द गुप्त

हिन्दी साहित्य के यशस्वी निबन्धकारों में बालमुकुन्द गुप्त का अपना एक विशेष स्थान है। गुप्तजी उर्दू साहित्य के विद्वान् थे। हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व वे एक उर्दू समाचार-पत्र का सम्पादन करते थे। उर्दू तो हिन्दी-भाषा का एक रूप-प्रकार मात्र है और उर्दू गद्य-पद्य के रूपों में अपेक्षाकृत एक गठन, एक प्रवाह और एक शक्ति प्राप्त कर चुकी थी। भारतेन्दु-युग में ही विशेषकर हिन्दी-गद्य विविध साहित्य रूपों में ढाला जाने लगा था और क्योंकि गुप्तजी उर्दू-क्षेत्र से आये थे, अतः उनके गद्य में वे सब विशिष्टताएँ विद्यमान हैं जो कि उर्दू-साहित्य की अपनी उपलब्धियाँ बन चुकी थीं। बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों की शैली अनुपम है, अपूर्व है। विशेषकर 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के प्रत्येक चिट्ठे अपनी उदात्त कल्पना, प्रसंग-उद्भावना का विरोधाभास-मय वैचित्र्य, लघु आकार में वेगमय गतिमयता, निगूढ़ व्यंग्य परिहास की हृदयवेधकता, शब्द चयन तथा पदावली समुचित मुहावरों के प्रयोग की पटुता और सबसे अधिक काव्य-शक्ति के सम्पर्क से उत्पन्न मार्मिक रुचिमयता से अलंकृत होकर बहुत लोकप्रिय रहे हैं। हास-परिहास-मूलक वर्णनात्मक निबन्ध भी इतने हृदयस्पर्शी, इतने श्रेष्ठ हो सकते हैं—यह गुप्तजी की उद्भट प्रतिभा के द्वारा ही सम्भव हो सका है।

एक आतुर कलाकार का हृदय देश की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्था का दारुण तथा दलित स्वरूप

देखकर विह्वल हो उठे—यह स्वाभाविक ही है; गुप्तजी की वही अदम्य टीस एक ओर तो विदेशी शासन-सत्ता तथा कथित समाज कर्णधारों के प्रति तीव्र व्यंग्य के रूप में व्यक्त हुई है और दूसरी ओर सत्ताहीन व पीड़ित जनता के प्रति करुणा के अविरल स्रोत सी प्रवाहित हो चली है। इस वेदना तथा इस करुणा के सह प्रवाह के कारण ही बालमुकुन्द गुप्त का स्वर इतना तरल और अन्त में आशावादी ध्वनि लिए गूँज उठा है। उनके सारे निबन्ध इसी प्राण-शक्ति से सम्पन्न हैं।

भंगेड़ी शिवशंभु के दिवा-स्वप्नों के बहाने बालमुकुन्द ने विदेशी शासन पर खूब फब्तियाँ कसी हैं। 'आशीर्वाद' शीर्षक चिट्ठे में वे व्यंग्य-पूर्ण उक्तियाँ बड़ी सबल व हृदयवेधक हैं। बालमुकुन्द गुप्त की भावुकता असीम है, देश की तत्कालीन गर्हित दशा का स्मरण उनके हृदय को असह्य दुःख से पीड़ित कर जाता है, उनकी सहानुभूति बरबस पददलित भारतीय जनता के लिए ही नहीं, वरन् पशु-पक्षियों के लिए भी उमड़ पड़ती है—और जब वह निशा-सिद्ध हो जाती है, तो उसमें से उद्भूत आशा युगीन वस्तुस्थिति की जड़ विषमता को भेदकर भावी को अपने अनुकूल सृष्ट करने के लिये सक्रिय हो उठती है। 'वह कारागार भगवान कृष्ण के लिए तीर्थ हुआ, वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई।' यह उक्ति ऐतिहासिक घटनाओं के पुनर्स्थापन की ध्वनि लिए हुए थी और आज तो वह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध भी हो चुकी है।

टिप्पणियाँ—

मुस्कुरा उठना—खिल उठना, सुषुप्ति—गहरी नींद।

पर वह चीन कहाँ गई होगी ?—इस प्रश्न की वक्रता में ही लेखक की समस्त प्राणीमात्र के प्रति सहानुभूति प्रकट हो जाती है।

अभ्रस्पर्शी—उच्च, मय जात—नवजात

वर जमीने . ...स्याह बूंद—जिस भूमि पर तेरा पद-चिन्ह है, उन पर दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक अपना मस्तक टेकेंगे।

मिलाइए—

'साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
मानवता पशु-बलाक्रांत
शृंखला दासता प्रहरी बहु
निर्मम शासन पदसत्ति भ्रान,
कारागृह में दे, दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त, कान
जनशोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत शात।' —पंत

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु-युग निबंध-साहित्य का उदय-काल था, जैसे निबंध अपने उद्गम-स्थल से निसृत होकर अपने अदम्य वेग में बह जाना चाहता हो अपने में सब बाधक वस्तुओं को आत्मसात करता हुआ और अपने पथ को प्रशस्त करता हुआ। उसे अपने आकार-प्रकार के सौष्ठव, सन्तुलन तथा अलंकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं था—सजलता तथा गतिमयता ही जैसे उसके शृंगार थे। भारतेन्दु-युग के निबंध इसीलिए अधिकांशत सरस भावात्मक रचनाएँ हैं पर जैसे हर वस्तु के विकास क्रम में एक समय ऐसा भी आता है जब कौमार-काल में, संस्कार के हेतु, आचार्य-आश्रम में जाकर शिक्षा-दीक्षा लेनी पड़ती है, हिन्दी की यही अवस्था थी और महामना महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों से यह संस्कार सम्पन्न होने को था। सरस्वती के सम्पादक क्या बने मानो उन्होंने हिन्दी

के इस विकास-काल को अपनी विराट् प्रतिभा से सुसम्पन्न, सुसंस्कृत तथा सुर्प्रान्वित बना दिया। 'न्याय-दंड' को धारण करनेवाले कई हुए हैं, परन्तु बाल इस सहजता से, इस समर्पण-भावना से किसी के मालन में अपने आपको स्वेच्छा से सौंप देना है यह कभी-कभी ही देखा गया है। किसी काल-विशेष में ऐसे न्याय-दण्ड-धारी महामानव का अवतरण उस काल को ही धन्य बना देता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी युग-निर्माता आचार्य थे।

आचार्य द्विवेदी ने भाषा का परिष्कार किया और उसे नव नव भावों तथा गहन-गहन विचारों की अभिव्यक्ति के योग्य बना दिया। उनका जैसा विराट् व्यक्तित्व था वैसे ही उनकी दृष्टि सूक्ष्मभेदी, सर्व-व्यापी तथा उदार थी, अतः हिन्दी साहित्य के रचना-लोक की अभिनव वृद्धि हुई। द्विवेदीजी का मार्ग-दर्शन बड़ा मंजीदा व प्रभावशाली था। उदीयमान लेखकों की रचनाओं को वे स्थान-स्थान पर स्पर्शकर सौष्ठव मंडित तो करते ही थे, साथ-साथ अपनी रचना-क्षमता के द्वारा साहित्य-क्षेत्र के अज्ञात व अभिनव नाना विषयों, नाना रूपों के 'आदर्श' उपस्थित कर उनको अपनाये जाने की प्रेरणा का संचार भी उनमें करते रहते थे। उनका निबन्ध-साहित्य भी मुख्यतः ऐसा ही प्रयोजन लिये हुए है। और इसीलिये उनका अधिकांश भाग एक विशुद्ध तथा श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ पाता। द्विवेदीजी की प्रतिभा का चमत्कार यही है कि वे स्वयं न श्रेष्ठ कवि कहलाये, न श्रेष्ठ नाटककार, न श्रेष्ठ निबन्धकार, और न आख्यायिकाकार, पर उनके व्यक्तित्व से व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में प्रभावित होकर साहित्य के सब ही अंगों के अनेक धनी कलाकार अपनी-अपनी श्रेष्ठ-सृष्टियों के साथ युगान्त-रेखा पर आ खड़े हुए हैं।

स्वयं द्विवेदी जी ने बहुत लिखा है, पर लिखा है एक प्रयोजन के साथ। उस प्रयोजन की सिद्धि में ही उनकी महान सफलता है। उनके

द्वारा रची कृतियाँ उनके विस्तृत अध्ययन, चिन्तन और विशेषकर शिल्पकारिता की सूचक हैं। उनकी साधना के फलस्वरूप ही हिन्दी-साहित्य अन्तप्रान्तीय और साथ ही अन्तराष्ट्रीय साहित्य के सम्पर्क में आया।। आचार्य द्विवेदी हृदय के उदार थे, वे भाषा की शुद्धता पर बल देते थे, पर अन्य भाषा-विभाषाओं के अर्थमय शब्दों को हिन्दी-प्रकृति के अनुरूप व्यवहार करने में हिचकते नहीं थे। इसी कारण इस युग में हिन्दी-भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। वैसे कहा जाता है और ठीक ही है कि इस युग का साहित्य अभिधा-तथा इतिवृत्तात्मक ही रहा, इसका कारण मूलतः वह प्रवृत्ति है जो भाषा के परिष्कार की ओर अधिक प्रवृत्त थी, फिर भी स्वयं द्विवेदी जी की कृतियाँ भाषा के अभिधा-कक्षा का अतिक्रमण कर लक्षणा-व्यंजना-विभूति से न्यूनाधिक विभूषित दिखाई देती हैं। द्विवेदी-काल के एक महान् निबन्ध-लेखक अध्यापक पूर्णसिंह की रचनाओं का भाव-भाषा-वैभव अनुपम है। आचार्य द्विवेदी का शब्द-चयन तथा वाक्य-रचना बड़ी अर्थवान, गम्भीर और सजीव होती थी। विषय के अनुरूप उनकी अभिव्यक्ति-प्रणाली में परिवर्तन होता रहता था, जहाँ शिक्षात्मक, सामाजिक, एवं राजनैतिक निबन्धों की भाषा सरल, व्यंग्य-विनोदपूर्ण तथा सरस होती थी, वहाँ आलोचनात्मक लेखों की भाषा गम्भीर, संस्कृत गर्भित तथा देशी-विदेशी शब्द-समूहों से गूँथी हुई होती थी। हिन्दी-साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी वह दीप-स्तम्भ हैं जो अपने युग का तो मार्ग दर्शन दे ही गया है और जो भावी युगों को भी अपनी ज्योति से प्रदीप्त करता जायगा।

प्रस्तुत निबन्ध 'रामायण' आचार्य द्विवेदी की आलोचनात्मक कृति है। वाल्मीकि रचित 'रामायण' भारतीय वाङ्मय का आदि महाकाव्य माना जाता है। द्विवेदीजी ने 'रामायण' महाकाव्य की महत्ता का प्रतिपादन करने के पूर्व महाकाव्य की विशिष्टतायें उसके प्रेरक-बिन्दु,

उसके तत्व तथा उसके सर्वग्राही प्रभाव पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य मान्यताओं के आधार पर और साथ हीं अपनी निजी प्रतिपादित स्थापनाओं पर द्विवेदीजी ने रामायण के भाव-कला-वैभव का विश्लेषण किया है जिस के कारण वह महाकाव्य देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक शाश्वत व आदर्श सृष्टि बन गया है। ऐसा नहीं कि जो कुछ कहा गया है वह विषय के सम्बन्ध मे पर्याप्त तथा पूर्ण है, पर इस लघु लेख से द्विवेदीजी की आलोचनात्मक क्षमता का भान अवश्य हो जाता है।

टिप्पणियाँ—

उपलक्ष्य-मात्र—निमित्तमात्र,

देश और काल—आपा-दान—युग विशेष की समग्र परिस्थिति की यथार्थ अभिव्यक्ति,

महा-प्रशस्त—विस्तार मे, अनन्त व्यापकता से, उन्मिषत—उत्पन्न, वृद्धि शील, दुर्भेद (दुर्भेद्य)—जो कठिनाई से भेदा जा सके।

कुछ उद्धरण—

(१) "भारतेन्दु ने जिसकी अजय अमर नीव पर
प्रथम शिला का गौरव स्थापित किया पूर्वतर,
कुशल शिल्पि बहु विविध कीर्ति स्तम्भो के सुन्दर
महिमा सुषमा जिसे दे गए अतुल्य यत्न कर।"

—पंत

(२) 'कहते है कि संसार के समूचे साहित्य मे इस प्रकार का लोकप्रिय-काव्य जातीय-ग्रन्थ नहीं है। समूचा भारतवर्ष एक स्वर से इसे पवित्र और आदर्श काव्य-ग्रन्थ मानता है और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का आधा इस महाकाव्य के द्वारा अनुप्राणित है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी।

हमारे इस युग में सर्वोदय का जो नया 'मन्त्र' गूंज उठा है, वह कर्म अर्थात् श्रम-प्रतिष्ठा पर ही समाज के नव-निर्माण करने की प्रेरणा लिए है। आज का समाज, थोड़े में कहा जाय तो, वाचन-धर्म है, उसमें श्रम हैं—पर वह श्रम तो बन्दी की विवश तथा अनैच्छिक तथा रसहीन हरकत भर है। आधुनिक समाज की विषमता का मूल कारण यही है। श्रम के मूल्य की तुला आज मुद्रा हो गई है। पर वस्तुतः श्रम का मूल्य तो केवल श्रम ही है—सेवा ही है, प्रेम ही है, समर्पण ही है, क्योंकि विशुद्ध श्रम के नियोजन में ये ही सम्पदायें क्रियमाण रहती हैं। सरदार पूर्णसिंह ने मज़दूरी यानी श्रम और प्रेम को एकात्मक माना है। इस भाव की अभिव्यक्ति के जो नाना प्रसंगों के रूप-चित्र इस निबन्ध में क्रमशः अंकित किये गये हैं, उनमें एक यही ध्वनि मुखर हो रही है—कर्मणा शुद्धि।

टिप्पणियाँ

शरीर का हवन करना—सर्वस्व अर्पण करना, आहुति हुआ सा—बलि-रूप, नयनों की भाषा—मौनाभिव्यक्ति, भीने भाव मिले रघुराई—गुरु नानक का कहना है कि जिसका हृदय निर्मल है, उसे ही भगवान मिलते हैं, सेनों का वाली—सेना का स्वामी।

किसी घर   रखना—इस नाशवान संसार में स्थायी घर बनाने की चेष्टा व्यर्थ है, ठिकाना बनाने की अपेक्षा बे-ठिकाने रहना और मकान की अपेक्षा बे-मकान रहना ही श्रेयस्कर है,

सफेद—इस शब्द की दो बार आवृत्ति हुई है भिन्न अर्थों में, अतः श्लेष अलंकार का प्रयोग है,

वेद-ज्ञान होना—(लाक्षणिक प्रयोग) सत्य ज्ञान का विस्तार,

योग -'अहरण, विविध, काम्यकर्म, फलाभिसंधि और अहंकार इन पांचों बातों का त्याग करने का नाम सन्यास है। वही योग है।'

आगमन्तु जीवन में—(१) उद्योग (२) प्रयोग।
आन्तर जीवन में—(१) योग।

योग का सार—(१) यम (२) नियम (३) संयम।

—सन्त विनोबा।

पद्मासन—हठयोग साधना में एक प्रमुख शारीरिक मुद्रा, सेमार—सहारा बनाने वाला, रंगो—रेशे; ध्रुपद और सनार—राग-भेद,

मजदूरी तो मनुष्य के ··· दिया जाता है—सन्त विनोबा ने इस बात को यों कहा है, 'पहले ज्ञान फिर कर्म और अन्त में भक्ति यह मेरा अनुभव है। इससे भिन्न भी अनुभव हो सकता है। तीनों एकरूप है।'

मजदूरी—सरदार पूर्णसिंह ने मजदूरी का प्रयोग निष्काम कर्म के अर्थ ही में किया है। यह गीता का प्रसिद्ध मन्त्र है। गीता-प्रवचन में इसकी व्याख्या करते हुए सन्त विनोबा भावे ने कहा है, कर्म का अर्थ है, स्वधर्माचरण की बाहरी, स्थूल क्रिया, इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही विकर्म है और जब कर्म के साथ विकर्म का मेल होता है, तो निष्कामता आती है, अकर्म निर्माण होता है। यही अवस्था अनन्त शक्ति का स्रोत है। उस शक्ति स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध, स्वार्थ आदि असद् वासनायें नष्ट हो जाती हैं, सत् का उदय होता है और मंगलमय कर्मों की असंख्य निधियां खुल जाती हैं। विकर्म की सहायता से निर्विकार होने से स्वधर्माचरण सम्बन्धी कर्म स्वाभाविक हो जाते हैं।

मजदूरी और फकीरी—गीता-प्रवचन में ही इस सम्बन्ध में लिखा गया है—संन्यासी और योगी दोनों लोक संग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहर से कर्म-त्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्म-त्याग से कर्म लबालब भरा हुआ है। उसमें अनन्त स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी संन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनों एक ही सिंहासन पर बैठने वाले हैं।

सोमनाथ के मन्दिर " कर्मयोगी के रहस्य का उद्घाटन करते हुए गीता-प्रवचन मे कहा गया है कि कर्म को मोट समझो। भावना-रूप मुहर की कीमत है, कर्म रूपी कागज के टुकड़े की नहीं। मूर्ति-पूजा की कल्पना मे बड़ा सौंदर्य है। इस मूर्ति को कौन तोड़-फोड़ सकता है? यह मूर्ति गुस्आन मे एक टुकड़ा ही तो थी। मैंने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावना के कोई टुकड़े कर सकता है? तोड़-फोड़ पत्थर की हो सकती है, भावना की नहीं। जब मैं अपनी भावना मूर्ति मे से निकाल लूँगा, तभी वहाँ पत्थर बाकी बच रहेगा, व तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं।

मूर्त सो सदा जाता है — ज्ञानोदय पूर्वीय देशों जैसे भारत मे ही सम्पन्न हुआ है, और फिर समस्त विश्व उससे अलोकित हुआ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी मे आधुनिक समालोचना के जन्मदाता तथा आदि-गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। संस्कृत समीक्षा-शास्त्र जो बड़ा भव्य, अगाध तथा विस्तृत रहा है, काल के अनेक परिवेशों मे पड़कर स्थूल रूप से चर्चा का विषय बना हुआ था और उन परिचित स्थूल सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यकारों की समालोचना वाग्विलास के रूप मे होती रहती थी। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया और साथ ही अंग्रेजी साहित्य के द्वारा पाश्चात्य देशों के साहित्य की भी जानकारी हासिल की। उनका मानस यों पौर्वात्य व पाश्चात्य साहित्य-धाराओं का संगम बन गया था।

रामचन्द्र शुक्ल, वस्तुतः एक कलाकार थे और कवि का सा भावुक हृदय रखते थे—इसीलिए भारती कलाकारों के अध्ययन की ओर व एक आग्रह लेकर बढ़े और यह देखकर कि उनका परिशीलन तथा

मूल्यांकन समुचित नहीं हुआ है, इस परिज्ञान ने उनके भावुक हृदय को मथ डाला। वह निगूढ़ वेदना ही थी जिसने उनको साहित्य का गहन अध्येता तथा समीक्षक बना डाला। उनकी जन्मजात शक्तियाँ स्वाध्याय से प्रबुद्ध व संगठित होकर हिन्दी साहित्य के आदि-काल से लेकर आधुनिक-काल का पारायण कर गईं और उसमें जो युग-चेता व श्रेष्ठतम कलाकार थे उनकी रचित सृष्टियों के चिन्तन पर आवृत्त वैभव को मुक्त कर दिया मानो अमृत की गोमुखी के द्वार का उद्घाटन कर दिया गया हो जिसका वे स्वयं तो पान कर ही चुके हैं पर उनका युग और साथ ही भावी युग भी पान करके धन्य हो सके। हिन्दी के आदि-काल से लेकर उस क्षण तक जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक आलोचक के रूप में उपस्थित होते हैं, कोई ऐसा नहीं है जो उनके विराट् व्यक्तित्व की समता कर सके। अनेक सदियों बाद जैसे हमने इस आधुनिक युग में प्रसाद के रूप में एक महा-कवि को पाया, वैसे ही शुक्ल के रूप में एक महाआलोचक को पाया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से भिन्न ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व था। आचार्य शुक्ल ने न कोई संस्था की स्थापना की और न किसी संस्था का अपने कर्म-योग के लिए आश्रय लिया, वे तो स्वनिष्ठ थे और अपनी चेतन-प्रतिभा के बल पर स्वयं ही एक संस्था बन गये। आचार्य शुक्ल देश काल सम्बन्धी स्थूल प्रवृत्तियों तथा हलचलों से अलिप्त रहे—उनके कर्म-योग का लक्ष्य था स्वाध्याय, वही उनकी अखण्ड साधना थी। सामयिक हलचलों से इस प्रकार तटस्थ से दिखाई देने का कारण ही हमारे युग के कुछ प्रगतिवादी आलोचक यह कहने का दावा करते हैं कि श्री रामचन्द्र शुक्ल युग-चेतना को समझने में असमर्थ रहे। द्विवेदी काल के बाद छायावाद अभिहित युग का प्रारम्भ हुआ, उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धियों तथा सर्वोच्च उन्नति का सच्चा लेखा-जोखा किया जाय तो यह बात छिपाये भी नहीं छिपेगी कि इस युग-विशेष की समृद्धि का श्रेय काफी अंशों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अखण्ड व अविचलित आलोचना

की भी है जिसमें आधुनिक साहित्य में बल पाती हुई कुछ मोहक पर अनिष्टकर प्रवृत्तियों की सबल, निर्भीक व निर्विकार ऊहापोह की गई है और इस प्रकार कला-मूढ़ताओं को सजग व प्रबुद्ध किया गया है। छायावादी युग के ऐसे युग-चेता कलाकारों के साथ ऐसे युग द्रष्टा आलोचक का होना जैसे नियति-सम्मत रहा हो।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने न केवल पूर्व-युगीन साहित्य की श्रेष्ठ सृष्टियों के वैभव मन्दिर का अनावरण किया, न केवल तत्कालीन युग को ही प्रबुद्ध किया, पर साथ ही आलोचना के पुरातन मानों की पुनः प्रतिष्ठा की तथा नवीन स्थापनाओं की अवतारणा की। इससे आलोचना ने सत्व पाया, वह मुक्त व विस्तारित हुई और वह अपनी क्रोड में नई सम्भावनाएं खिला सकी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में आलोचनात्मक प्रबन्ध भी हैं और निबन्ध भी, पर निबन्ध क्षेत्र में उनकी देन विशेष रूप से उन रचनाओं के कारण है जो मानव की भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों के आधार पर रची गई हैं। इन सारे निबन्धों में जो प्रमुख विशेषता है वह है लेखक के व्यक्तित्व का प्रलम्बन। शैली ही व्यक्ति है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध में जितना बहिरूप में सत्य है इतना ही अन्तरूप में भी। व चित्र व काव्य कला की शक्तियों से सम्पन्न थे। उनकी अभिव्यक्ति अपने निसर्ग रूपों में नहीं हो सकी, पर जो इन शक्तियों का धनी था, उसकी जब वाणी मुखर हुई तो उन शक्तियों का गद्य-वैभव उसकी अभिव्यक्तियों को अलङ्कृत कर गया। उनके समालोचनात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्ध दोनों ही उस विभूति से समृद्ध हैं।

आचार्य शुक्ल व्याख्याकार हैं और स्थापक भी और इन दोनों ही रूपों में वे मौलिक हैं। इस साधना के अन्तर्गत जैसे छायावादी कवि-श्रेष्ठों ने हिन्दी भाषा को पद्यानुरूप वैभव में मंडित किया, वैसे ही

शुक्लजी ने उसके गद्य-रूप को सुसंस्कृत व शक्ति-सम्पन्न किया। हिन्दी गद्य में भी गभीर से गंभीर भावों को वहन करने की क्षमता आ गई। शुक्लजी के द्वारा जितने ही भाव-रूपों की सृष्टि हुई है। व सफल शब्दोद्भावक थे। वे अपनी क्रान्त-दर्शी प्रतिभा के द्वारा शब्द की आत्मा तथा उसकी सभावित शक्ति को पहिचानते थे। निबन्धों के प्रतिपादन में आचार्य शुक्ल ने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग भी किया है, पर उनकी विशेष निगमनात्मक पद्धति के प्रति विशेष थी, ऐसा प्रतीत होता है। इस कारण उनके निबन्धों में अनेक सुन्दर सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने स्रष्टा की प्रतिभा की मुहर लिए हुए है। भाव-निगूढता के क्षणों में उनका काव्य-पुरुष चेतन हो जाता है और दृश्य तथा चरित्र अकन में उनका चित्रकार-पुरुष। और प्रसंगानुकूल जब आचार्य शुक्ल हलकी मनोदशा में होते हैं, तो उनकी लेखनी विनोद तथा व्यग्य के रंगीन छींटे यत्र-तत्र डाल जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मौन अध्यता व प्रतिभावान साहित्य-मनीषी थे, वैसे ही उनकी शैली प्राणवान व शक्ति समर्थ थी।

'उत्साह' एक मनोवृत्ति है—उसका लोक मानव हृदय है जो समुद्र के समान अथाह, अगम तथा अपार है। आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्ध-सग्रह चिन्तामणि की भूमिका में लिखा है, 'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।' ये मनोवैज्ञानिक निबन्ध लेखक के अन्तश्चिन्तन के परिणाम-रूप हैं। 'उत्साह' निबन्ध छोटा है, पर आचार्य शुक्ल के सूक्ष्म-वैशिष्ट्य सब इसमें परिलक्षित होते हैं। एक सूत्र और

उसकी व्याख्या के क्रम में सारा निबन्ध एक बंध में आबद्ध होकर गौरवमय हो गया है। उत्साह मनोवृत्ति के स्वरूप-बोध के प्रसंग में जीवन के नाना उन्मेष गुम्फित हुए हैं जो विषय को अधिक सजीव व प्रेषणीय बना जाते हैं। आचार्य शुक्ल तो लेखनी के धनी थे। उनकी शैली जितनी समृद्ध है उतनी ही स्वत-सिद्ध भी है। 'उत्साह' में भी स्पृहणीय वही मनोविश्लेषक का बुद्धि-वैभव, वही तार्किक क्रम का कौशल, वही नई स्थापनाओं की क्षमता तथा उसमें रमणीय स्थलों की उद्भावना, वही सुन्दर दृश्यों का रेखांकन तथा उसमें रमणशीलता और वही नव भाव-सूक्तों का निर्माण तथा शैली की सुगम्फितता दृष्टि-गोचर होती है। 'उत्साह' एक प्रेरणात्मक सद्-वृत्ति है, यह मानव को कर्मयोग में प्रवृत्त करती है और साथ अपने उत्कर्ष रूप में कार्य-कारण में लिप्त स्थापित कर निष्काम-कर्म के परम आनन्द का दान करती है। रसवादियों ने उत्साह को भी एक सीमा में देखा था, आचार्य शुक्ल ने इस मनोवृत्ति का विश्लेषण उसके सहज रूप में किया है।

टिप्पणियाँ

प्रयत्नावस्था -'उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है उसे वो प्रयत्न कहते हैं'—(शुक्लजी) अर्थात् कर्मरत मनःस्थिति, पूर्वापर—आगा और पिछला, प्रमाण और प्रमेय, अनुभूत्यात्मक—अनुभव जन्य, फलासक्ति-शून्य कर्म—निष्काम कर्म, कुम्हड़ा—काशीफल, अनुष्ठान—धार्मिक कर्म।

डॉ० श्यामसुन्दर दास

क्रान्ति-सम्पन्न युग में देखा गया है, एक साथ अनेक उद्भट कृतियों का अवतरण होता है जो स्वयं अपनी महाशक्ति से अपने क्षेत्र में अपने ढंग से प्रकाशित होते हैं और साथ ही उस क्रान्ति की समग्र गतिविधि में वे एक साथ एक सम्पूर्ण योगदान भी दे जाते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास

भी ऐसे ही ऋषियों में से एक थे। लगता यह है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा जो कर्म-संगठन हुआ था, उसके अन्तर्गत जो अंश अभिप्रेत व महत्वपूर्ण होते हुए भी दृष्टि पथ पर नहीं आ रहा था, प्रसाद नहीं पा रहा था—वह डॉ० श्यामसुन्दर दास की दृष्टि में आ बसा। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का शिलान्यास इसी महत् कार्य की पूर्ति के लिए सम्पन्न हुआ था और इसी संस्था की छत्रछाया में सर्वांग विचारात्मक व अनुसंधानात्मक कार्य का समारंभ हुआ।

बाबू श्यामसुन्दर दास में संस्था के प्रति असीम आस्था रही है। उनकी समग्र शक्ति का प्रमुख केन्द्र काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा रही है और अन्य किसी संस्था ने उनकी शक्ति को अपनी ओर कुछ अंशों में आकृष्ट किया है तो वह है हिन्दू-विश्वविद्यालय। इन्हीं दोनों संस्थाओं में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ है। बाबू श्यामसुन्दर दास के संचालन व सम्पादन में जो अनुसंधान-कार्य हुआ उसका केन्द्र थी नागरी-सभा, उन्होंने उच्च-शिक्षा निमित्त जो आलोचनात्मक कृतियाँ रची उनकी प्रेरक-भूमि थी हिन्दू-विश्वविद्यालय। बाबूजी द्वारा स्व-रचित अथवा सम्पादित साहित्य हिन्दी की अमूल्य निधि है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास उन संस्थाओं में अपने आपको इतना उत्सर्ग कर चुके थे, कर्त्तव्य-भार से इतने दब गये थे कि उनका सृष्टा-रूप उभर नहीं सका, उठ नहीं सका। उनकी कुछ रचनाएँ तो सम्पादक और कुछ कृतियाँ अध्यापक के गुरुभार में दबी हुई हैं। इतना होते हुए भी काल की पुकार को यथेष्ठ पूर्ति बाबूजी की कृतियों द्वारा सम्पन्न हुई है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो श्रेय अर्जन किया है, हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में डॉ० श्यामसुन्दरदास न्यूनाधिक रूप में वैसे ही श्रेय के अधिकारी हैं। अधिकांशतः वे दोनों साहित्य दिग्गज एक ही पथ के पथिक लगते हैं। साध्य तथा साधन की

दृष्टि से भी बहुत कुछ ममता लिए हुए, उन्होंने हिन्दी भाषा तथा साहित्य की चिर-स्मरणीय सेवा की है।

हिन्दी-भाषा और साहित्य से सम्बन्धित जितनी भी बाबूजी के द्वारा रचित व सम्पादित कृतियाँ हैं उनमे उनका अध्यापक रूप अधिक मुखर है—और यह तथ्य ही उनकी शैली को एक साँचे मे ढाल गया है। हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के गहन से गहनतम विषय के निरूपण मे अध्यापक को जिस सरलता सुबोधता तथा वैज्ञानिक-अनुक्रम-कौशल की अपेक्षा पड़ता है, वे ही बाबूजी के अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य बन गए हैं। उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी है और तत्सम रूपों से सयुक्त वह प्राजल तथा परिमार्जित है। इसी कारण शैली में एकरूपता तो है, पर उसमें वैभिन्न्य का न तो चमत्कार आ पाया है, न सरसता और न विमोहकता।

'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' लेख मे विद्वान लेखक ने भारतीय साहित्य की उन मौलिक विशिष्टताओ का प्रतिपादन किया है जिनके आधार पर वह विश्व-साहित्य मे अपना अनुपम स्थान बनाए हुए है। विश्व के विभिन्न खण्डो मे युग-युग मे साहित्य व कला का सृजन होता रहा है, मानव के अन्तर्लोक मे विराजमान जो एक अखण्ड शक्ति-बिन्दु है, उसके सर्वव्यापी होने के कारण उन कलात्मक सृष्टियो मे भी—अन्य उपलब्धियो के समान—कुछ सर्वमान्य तत्व समान रूप से विद्यमान होते हुए दिखाई देते हैं। इतना होते हुए भी, कुछ देशों की साहित्य व कला कृतियाँ ऐसी स्व सिद्ध ऐश्वर्य से आपूरित होती हैं कि वह उनकी अनूठी विशिष्टताओं का हेतु बन जाता है। भारतीय साहित्य की ऐसी ही कुछ मूलगत विशेषताएँ हैं। उन सब पर प्रकाश डालने के बाद लेखक उन दोषो विशेषताओ का भी उल्लेख करता है जो न्यूनाधिक रूप मे भारतीय साहित्य व कला को स्थानीय रूप-रग-प्रदान मे वेष्टित कर गई हैं। डा० श्यामसुन्दरदास की शैली, विषय का प्रतिपादन मे सुगरठ, बोधगम्य, व्याख्या-मूलक तथा सहज प्रवाह-मय है।

आश्रम-चतुष्टय— वर्णाश्रम-धर्मी द्विज के जीवन की चार अवस्थाएं, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास;

अरे भाग·······विनई है—हे भगवन् ऐसा कीजिए, जिससे लोग अपने आपको बड़भागी मानकर प्रेमपूर्वक यह कहें कि श्रीराम ने हमें कृपा-दृष्टि से देखा है। मेरी यह विनती सुनकर श्रीराम ने आनन्द से मेरी ओर देखा और मुस्करा कर करुणा की ऐसी वृष्टि की जिससे सारी भूमि तर हो गई। रामराज्य होने से सब काम सफल हो गये और शुभ शकुन होने लगे क्योंकि श्रीराम जगद्विजयी हैं। सर्वसमर्थ ज्ञानस्वरूप दयालु स्वामी ने पुण्य रूपी सेना को हारते हारते जिता लिया।

अस्थि-पंजर—कंकाल, एकेश्वरवाद—यह मत कि जगत् को सर्वत-नियमन करने वाली शक्ति एक ही है, ब्रह्मवाद—यह मत ब्रह्म को ही सब वस्तुओं का आदि-स्रोत मानता है, उसी से सबका जन्म होता है, उसी में जीवित रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में ये सूत्र प्रसिद्ध हैं, अहं ब्रह्मास्मि तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि, अवतारवाद—यह मत कि धर्म-ग्लानि होने पर उसकी पुन: स्थापना के लिए ईश्वर पृथ्वी पर जन्म धारण करता है, बहुदेववाद—नाना देवी-देवताओं की मान्यता यह मत प्रतिपादित करता है, ऋचाओं—वेद मंत्र, परोक्ष अलक्ष्य, अज्ञात तथा रहस्यमय; गुरुडम—आचार्य बनने की, अहंकारमय प्रवृत्ति, निसर्ग-सिद्ध—सहज, स्वभाव जन्य, सनिष्ठ—सम्बद्ध, सर्वांग सौष्ठव पूर्ण।

कुछ उद्धरण—

(१) 'हमने अन्धा-धुन्ध अनुकरण किया है, अच्छा बुरा जो कुछ मिला है, उसे उदरस्थ करने की चेष्टा की है, सत्-असत् जो कुछ अपना था, सब छोड़ने और भूलने गये हैं। शायद हम ऐसा करने को बाध्य थे,

शायद यही स्वाभाविक है, पर जिस त्रुटि को कोई भी बर्दाश्त नहीं कर सकता वह यह है कि हमने अपनी वह सबसे बड़ी सम्पत्ति खो दी है, जिसने भारतीय साहित्य को, उसकी सम्पूर्ण दोष-त्रुटियों के बाद भी, संसार के साहित्य में अद्वितीय बना रखा था। वह सम्पत्ति है 'संयम', श्रद्धा और निष्ठा।

एक दूसरी महत्वपूर्ण सम्पत्ति भी है, जिसे हमने नवीनता के नशे में तोड़ दिया है। वह हमारी सुदीर्घ साधना-लब्ध दृष्टि, अपने काव्य के अभिधेय अर्थों की सीमा पार करके जिस प्रकार हमारा कवि एक अन्य अर्थ को ध्वनित करता था, उसी प्रकार वह इस ठोस स्थावरग आन्तरिक व्यापारों के भीतर भी एक स्पातीत सत्य को देखा करता था।'

—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्कृत भाषा और साहित्य के एक मेधावी अध्येता रहे हैं, और काशी-विश्वविद्यालय इस अध्ययन का केन्द्र रहा है वैसे देव-भाषा तथा उसके साहित्य का अध्ययन अपने विस्तार में तो अध्येता को सर्वविद् बना देता है पर इतनी उपलब्धि के बाद भी या यों कहिए उसी के कारण साधारणतः अध्येता का मानस एक अस्वस्थ व हठी अहं-वृत्ति से कुंठित हो जाता है कि सम्मुख बिखरे जीवन, उसके यथार्थ, उसके सतरण का वे न तो विशुद्ध भावन कर पाते हैं और न उसमें समुचित योगदान दे पाते हैं। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी का भारतीय साहित्य का अध्ययन बड़ा विस्तृत है और गहन भी। इस स्वाध्याय ने उनके व्यक्तित्व को शक्ति-सम्पन्न व उन्नत बना दिया था— यह तो काशी-वास का पुण्यदान रहा, पर उनकी सर्वदिन तथा सर्वांगीण विराम की भूमि रही है 'शान्ति-निकेतन।' वह आश्रम प्रकृति की

नीता-भूमि है, वहां का वातावरण स्वच्छन्द व पूत। वहाँ के हृदना-नुग्रह के फलस्वरूप प्रत्येक दिशा से विश्व भर की चेतन-हवाएँ आकर आलिंगन बद्ध होती रही हैं—आखिर शान्ति-निकेतन के होता कवि-श्रेष्ठ रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। उस शांत, पवित्र तथा स्निग्ध वातावरण और रवीन्द्र बाबू के प्रेरणास्पद सान्निध्य के फलस्वरूप जैसे उनका हृदय सहज ही अनेक परिग्रहों से मुक्त होकर जीवन-रस से परिपूर्ण हो गया हो, तथा उनकी दृष्टि उन्मुक्त, उदार तथा पारदर्शी बन गई हो। अन्तर्मन जब इस प्रकार प्रबुद्ध हो उठता है, तो वह अपनी अभिव्यक्ति का रूप भी उसके अनुकूल स्वत ही अर्जन कर लेता है। उनकी अभिव्यक्ति-शैली पर भी शान्ति-निकेतन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निधन के बाद, एक ऐसी अराजक स्थिति इस कल्पना-प्रसूत उपपत्ति से उत्पन्न हुई कि हिन्दी साहित्य एक संक्रांति में से गुजर रहा है। इस मायाच्छन्न वातावरण में कई गढ़पतियों ने वाद-ध्वज रोपन किये और वे नक्कारों की प्रबल चोटों से अपने अपने मत्ता को थोपने तथा सर्वमान्य बनाने के विराट् प्रयत्न में लगे। इस भारी हलचल के तुमुल कोलाहल में भाग्यवश दो-एक गुरु गंभीर स्वर भी मुखर हो उठे थे और उनमें से एक था डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का। उस स्वर में स्वाध्याय का बल था, युग-चेतना की दीप्ति थी और अभिव्यक्ति का लालित्य। कोलाहल हतप्रभ हुआ, मेधावी प्रतिभाओं का स्वर प्रबल व उन्नत हुआ। आज आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की क्षति शून्यता भरती हुई दिखाई देने लगी है, अराजकता आँख मूँद रही है।

काशी और शान्ति-निकेतन के संगम में ही डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व गठित हुआ है। ऋषियों की पूत-वाणी का जीवन-व्यापी अपार ज्ञान और युग युग से अपने चरण चिह्न रखती हुई आज की चेष्टा-रत मानवता के यथार्थ का सम्यक् बोध उनकी रचनाओं की धरती

की व्यापक, उनके रूपों को संगतिपूर्ण, सौष्ठवमय तथा प्रेरणादायी बना गये हैं। द्विवेदी जी की कृतियों में मौलिकता है, भाव और कला दोनों पक्षों में । हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन भूमिका पर प्रतिष्ठापित कर, नव अनुसंधान के निष्कर्षों से समृद्ध कर उन्होंने नव पर सारभूत जीवन-मूल्यों के आधार पर उसका अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार उनके द्वारा रचित निबन्धों में साहित्य व कला सम्बन्धी अनेक उपपत्तियों पर विचार प्रकट किए गए हैं और उन्हें अपनी नीर-क्षीर क्षमता के द्वारा नये प्रकाश में ला उपस्थित किया है। उनके निबन्ध विविध विषय वस्तु को लिए हुए हैं और विविध प्रसाधना में अभिव्यक्त हुए हैं।

उनकी भाषा संस्कृत गर्भित है, शब्द-गठन भी स्वभावतः संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप । इस विधि से हिन्दी के भावाभिव्यक्ति लोक में सबल व सार्थक अभिवृद्धि हुई है। संस्कृतगर्भ भाषा कटु व क्लिष्ट हो जाती है—यह कितनी भ्रामक धारणा है इस बात को अनायास ही डॉ० द्विवेदी की कृतियाँ पुष्ट कर जाती हैं । संस्कृत-गर्भित भाषा होने से उसमें अर्थ वैभव तो है ही, पर वह प्रसाद-गुण-सम्पन्न, तथा लालित्यमयी भी है । काव्यमयता तथा कथन-वक्रता का वैभव द्विवेदीजी की शैली का एक अन्य अविभाज्य अङ्ग बन गया है। यह देन है कवि रवीन्द्र की और आज तो समर्थ पाठक स्वयं प्रभु बन गया है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी से बड़ी आशाएं हैं। उनकी लेखनी में सृजन-कला की शक्ति है—वह स्वयं सृष्ट करेगी और दूसरों को उसी कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देगी।

साहित्यकार के प्रकृत व्यक्तित्व की विभूतियाँ क्या होती हैं, इस विषय पर विचार प्रकट करते हुए स्वातन्त्र्य लेखक ने साहित्य-प्रणेता की उस पृष्ठ-भूमि को हमारे सामने रक्खा जबकि आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी क्षेत्र एक अराजक-स्थिति से गुजर रहा था। साहित्य के तथ्य तथा आदर्श और उन सबकी अभिव्यक्ति के नाना मनमाने संगठनों का आश्रय लेकर अनेक वादों के आविर्भावक आ डटे थे—और विशुद्ध रचना कर्म से हट कर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नीति से अपने मतों को स्थापित करने की उत्तेजक चेष्टा में लगे हुए थे। इस कारण व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप की तीव्रता से समस्त वातावरण तप्त था। इस दशा में गत्यवरोध होना निश्चित है। स्वाध्यायी द्विवेदी जी जैसे आत्म-निरीक्षण ही कर रहे हों, उनका मनन इस परिणाम पर पहुँचता है कि छोटा मन कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। यह सरल उक्ति बड़ी अर्थ-गर्भित है। साहित्य तथा कला साधना की भूमि है, वह रणभूमि नहीं और अगर रणभूमि है तो वह अन्तर्मन में होने वाली सत्-असत् भावनाओं के बीच, भाव ज्ञान के बीच संघर्ष को लिये हुए ताकि कलाकार स्वयं अपने उस लोक में एक अन्विति—एक समरसता की उपलब्धि कर सके। साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है और इस प्रकार की उपलब्धि तप से प्राप्त होती है।

'तप रे मधुर मधुर मन' —कवि पन्त।

टिप्पणियाँ—

दृढ़चेता—दृढ़ निश्चय वाला, हस्तामलक—हाथ में रखे आँवले के समान स्पष्ट तथा बोधगम्य, उद्देश्यान्वेषी—लक्ष्य प्राप्ति हेतु अनुसन्धान का आग्रही, प्रयोजन जन्य, असन्तुलित जीवन विकृतियों—विच्छिन्न जीवन के फलरूप विरूपतायें, अनुसन्धित्सा—अनुसंधान करने की इच्छा, व्यवहृत—प्रयोग में लाया हुआ, आचरित।

विशेष उद्धरण

(अ)—"पौरुष में शक्ति का आडम्बर नहीं होता, उसकी मर्यादा होती है, उसमें साहस होता है, बहादुरी नहीं। अनेक नवीन

कविता की रचना में इस नश्वरता के लक्षण दिखाई दे रहे हैं।……
किन्तु शक्ति की नई स्फूर्ति के समय ही शक्तिहीनों की कृत्रिमता साहित्य को गन्दा कर देती है… ऐसे अकुलाए लोग ही कृत्रिमता के द्वारा अपनी अभावपूर्ति के लिये प्राणान्त चेष्टा किया करते हैं, ये रुढ़ता को कहते हैं शौर्य, और निर्लज्जता को कहते हैं पौरुष। बंधी हुई गत गत पर चलने के सिवा उनके चलने का और कोई उपाय न होने से ही वे आधुनिक-युग की नवीनता के बड़े बोल मुखर कर रखते हैं।"

—कवि रवीन्द्र बाबू।

(आ) "साहित्य और ललित कला का काम ही है 'प्रकाश करना', इसलिए तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका मुख्य काम है।" —कवि रवीन्द्र बाबू।

रायकृष्ण दास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चेतना तो शाश्वत ज्योति की शाश्वत किरण थी वह देश काल का अतिक्रमण कर न मालूम कितनों को स्पर्श कर गई थी, कर रही है और करती रहेगी, पर उस हरिश्चन्द्र भवन की ओर देखते हैं तो उस विशाल अट्टालिका में अगर कोई उनके दीपक को संजोए हुए है तो एक मौन-साधक वंशज—रायकृष्ण दास। भारतेन्दु-भवन और उसके अवशिष्ट वैभव के मानो वे ही प्रहरी हों। रायकृष्णदास साहित्य-कला के प्रेमी तथा साधक हैं विशेषकर चित्र व मूर्ति कला के प्रति उनका अनुराग अनुपम है। उनका मन चित्र व मूर्ति कला की भव्य दुनिया में सुशोभित रहता है और वह दिन-प्रति-दिन नवीन व अनम्य कला सृष्टियों को धारण कर अपने आपको अलंकृत करता रहता है। रायकृष्ण दास जैसे उन सृष्टियों की रेखाओं के भीतर जो ऐश्वर्य लोक बसा हुआ है उसके दर्शन करने और रस-रूप असीम आनन्द के आस्वाद में तल्लीन रहते हों। इस मौन साधना का ही उस

उनकी स्वरचित कृतियों को इतना भव्य, गूढ, सरस तथा विमोहक बना गया है।

गद्य-काव्य तो गद्य साहित्य की आधुनिक-तम विधा है। गद्य भाषा का निसर्ग व सहज रूप है जो भाव प्रेषणीयता की गति में सरिता-सा स्वच्छन्द है, वेगशील है, क्रीडालीन है और सगीतमय है। पद्य, इस दृष्टि से छन्द की सीमाओं में बध कर ही, एक सस्कारिता को अर्जित करता है। यह युग क्योंकि गद्य को विशेष रूप में अंगीकृत किये है इसलिये गद्य में ही उसने अपनी अभिव्यक्ति के हेतु नई नई विधाएं खाज निकाली है। गद्य-काव्य में अपनी निसर्ग विभूतियां को लिये मानो पद्य को अपने अञ्चल में भर लिया हो। जिसे काव्य-क्षेत्र में प्रगीत से अभिहित करते हैं, वही गद्य-क्षेत्र में *गद्य-काव्य का नाम* धारण कर गया है—वस्तुत न्यूनाधिक वे ही विशिष्टताएं इसका रूप-सभार बनती हैं जो प्रगीत के रुपाकार में योग प्रदान करती है। गद्य-काव्य आत्मलीला का—या उस लीला के एक भाव-वैभव का—या उस भाव की एक छवि-विशेष का शब्द-चित्र है, अभिव्यक्ति है। आधुनिक भारतीय साहित्य में इस नई विधा के प्रथम व प्रमुख कलाकार कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर माने जाते हैं।

रायकृष्ण दास पर रवीन्द्र बाबू का विशेष प्रभाव है। 'आनन्द की खोज' गद्य-काव्य में बृहत् जीवन-सत्य के अतिरिक्त लेखक ने जैसे अपनी कला-सृष्टियों की रचना-क्रिया की ओर भी सकेत कर दिया है ऐसा ध्वनित होता है। जगत के नाना रूपों की ओर आकृष्ट होना है कलाकार, उनकी *विविध रुपात्मक सौन्दर्य-राशि का वह द्रष्टा बनता* है। उसकी दृष्टि भीतर-बाहर सब ओर प्रविष्ट होती हैं, अपनी कृति के उपकरण-चयन के हेतु, पर वह प्राण-बिन्दु, जो रचना के मृत्तिका-भाण्ड को चेतन से, अमृत से भर देता है, उसके अभ्यन्तर में ही तो रमण कर रहा है। रचना के जगतव्यापी उपकरणों को तो उस

अभ्यन्तरवासी के निमित्त उत्सर्ग होता है और इस उत्सर्ग-दशा में जो अन्तर्रचना-क्रिया होती है वही सत् साहित्य है। किसी अन्तर्ज्योति से मानस-उपवन की एक भाव-कली प्रस्फुटित होती है, उसके स्पर्श-रस-गन्ध की एक छवि-मय ध्वनि गद्य-काव्य की रेखाओं में आ बस जाती है।

रायकृष्ण दास भारत—और भारत की जो कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ हैं, उनके आस्थावान उपासक हैं। रवीन्द्र बाबू की ओर वे आकृष्ट भी इसीलिए हुए थे। इस गद्य-विधा का स्वरूप उन्हें अपने 'स्व' के अनुरूप लगा और फिर उसी के नाना प्रसाधन उनकी भाव-लहरियों के अभिव्यक्ति के आधार बन गए। रायकृष्ण दास की कला के भीतर जो भाव-छवियों का वैभव लीलामय हो रहा है, वह इसलिए सम्भव हुआ है कि उनका 'स्व' हृदय लोक में अपने निरावरण विशुद्ध रूप में अवस्थित है, सेवित है। आत्माभिव्यक्ति की शक्ति ने ही उनकी ललित व मसृण रचनाओं को निसर्ग सौन्दर्य से मण्डित कर दिया है। अमूर्त व निगूढ़ जीवन-सत्य मूर्तिमान होकर बोध-सुलभ हो गए हैं। उनके शब्दों में लावण्य है, और शब्द-समूह में संहति कि सारी रचना एक गति, एक वेग, एक लय और एक बल लिए अपने आप में एक स्रोतस्विनी-सी परिपूर्ण बन जाती है। स्वप्नसारत्व, भावकता, पुनरुक्ति की अनुपम शक्तिमत्ता, और चित्रात्मकता उनकी शैली के विशेष गुण हैं।

'आनन्द की खोज' में एक जीवन-सत्य की ध्वनि है। भारतीय दर्शन की यह निजी उपलब्धि है और उसकी प्रतिध्वनि बारबार साहित्य में अनेक रूपों में सुनाई देती रही है। कबीर ने 'कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूँढै बन माँहि।' पद में उस सत्य को ही निबद्ध किया है। मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है, यह एक जीवन-सत्य है, पर मृग वन-भर में इधर-उधर घास-पात में उस 'सुवास' को ढूँढ़ता फिरता है। इस क्रिया में कवि मृग की भ्रान्ति ही मानता है। कबीर के पद का उत्तरार्द्ध यह

ध्वनि देता है कि मृग की यह चेष्टा व्यर्थ है। रायकृष्ण दास का गद्य-काव्य पूर्वार्द्ध सत्य को लिए हुए है, पर साथ ही वे प्रकृति के इस सौन्दर्य-लोक की, कबीर की भांति, उपेक्षा नहीं कर सके—वन-खण्ड का यह भटकना भी उनकी विचारणा में सार्थकता लिए है। अत वे व्यक्त जगत के प्रति भी सजग हैं, उसके दान से कृतार्थ - 'यहाँ तो जो वस्तु में अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड में मिली।' अखिल ब्रह्माण्ड में लीलामय होने वाले चेतनाचेतन-रूप मानव के अन्तर्जगत्-लोक के आदि-सहचर रहे हैं, प्रेरक रहे हैं। और आनन्द का स्थल तो हर प्राणी का मानस लोक ही है। यों यह गद्य-काव्य जीवन के एक परिपूर्ण सत्य को एक नव-वेष्टन में मूर्तिमान कर गया है।

टिप्पणियाँ—

जैसे चन्द्र . . . फिरता है—चकोर चन्द्र का प्रेमी माना गया है वह चंद्रिका का पान करता है और इसी प्रेम-निष्ठा में वह भ्रमित होकर अंगारों को भी खा जाता है—

सबही को पोषित रहै, अमृत-कला सरसाइ।

ससि चकोर के दरद को, अजौ सकत नहिं पाइ।।—रसनिधि।

परिपोषित करता—परिपुष्ट करता, वृद्धि करता।

बाह्य प्रकृति ने . . देखा था—

> 'खालिक खलक, खलक में खालिक,
> सब घट रह्यो समाइ।'—कबीर।

यह अद्वैतवाद के अनुसार पुरुष-प्रकृति की व्याख्या है। पर रायकृष्ण दास का कथन कुछ अन्य ही ध्वनि लिए है। वह जैसे द्वैतवाद का प्रतिपादन कर रहा है। प्रकृति अपनी रूप-सुषमा में एक संदेश लिए है, वह हमारे चेतन को जगाने का कारणभूत बनाती है। जब

इस प्रकार हमारा चेतन प्रबुद्ध हो जाता है तब 'सात्विक बालक, सत्तर में सात्विक' की अनुभूति होती है। हमारा अंतर्लोक ही सच्चिदानन्द का मंदिर है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी क्षेत्र में जो दो-एक समर्थ आलोचक दिखाई देते हैं उनमें से नन्ददुलारे वाजपेयी भी एक हैं। आलोचना का काम वैसे कुछ कठिन नहीं है—किसी वस्तु के निकट आने पर हर कोई अपनी रुचि के अनुसार सम्मति देने की अभिलाषा तथा सत्त्व रखता ही है, पर ऐसी आलोचना मन-बहलाव के लिए ठीक है, उसमें श्रेष्ठ रचना का चेतन नहीं पड़ता—एक तरह से उसके मोटे व भद्दे आवरण में वह और भी अधिक ढक जा सकती है। आलोचना भी अपने आप में एक रचना है और प्रत्येक रचना के लिए सात्त्विक साध्य का समग्र दर्शन आवश्यक है। ऐसे ही आलोचना के लिए भी उतना ही विस्तृत अवलोकन, उतना ही गम्भीर स्वाध्याय तथा उतना ही निगूढ़ चिन्तन अभिप्रेत है। इन सब गुणों के अतिरिक्त सत्-आलोचना के लिए प्रथम सीढ़ी है नैकट्य, इस नैकट्य के सहज स्थापन के बिना आलोचना-मंदिर का द्वार खुलता नहीं है। आधुनिक साहित्य के प्रमुख सृष्टाओं से सान्निध्य प्राप्त करने का सुयोग नन्ददुलारे वाजपेयी को मिला है—और इस नैकट्य के दान-प्रतिदान ने उनकी आलोचना-वृत्ति को सक्षम बना दिया है। आधुनिक साहित्य और विशेषकर छायावादी-युग पर उनकी उपपत्तियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

वैज्ञानिक क्रांति के बाद देश-काल का व्यवधान विशेष प्रबल नहीं रह पाया है, अतः अन्य बातों के आदान-प्रदान के साथ साथ ज्ञानराशि की लहरें भी वेगवती होकर सर्वत्र भ्रमण करने लगी हैं। पूर्व व पश्चिम का यों उदात्त-भूमि पर एक मंथन चल पड़ा है। पाश्चात्य देशों की दार्शनिक व साहित्यिक निष्पत्तियाँ आ आकर भारतीय साहित्य व कला

मर उत्तरोत्तर से टकरा रही हैं, आलिंगन बद्ध हो रही हैं, बिछुड रही हैं। हिन्दी-साहित्य भी इस आदान-प्रदान से झकझोर उठा है और इस मय। पर्व के बाद नई धीर, गंभीर धाराएं साहित्य-क्षेत्र में प्रवहमान हुई हैं तथा अपने निजी स्वस्थ स्वरूप को प्राप्त कर चुकी हैं—ऐसे संक्रांति के समय इन नव परिपुष्ट रूपों के अध्ययन के लिए एक प्रबुद्ध सहानुभूतिपूर्ण चित्त की आवश्यकता होती है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने वैसा ही चित्त पाया है। अपने विस्तृत स्वाध्याय के बल पर इन धाराओं का समग्र विश्लेषण उनके द्वारा जिस गम्भीरता व सहृदयता से हुआ है वैसा ही उन धाराओं के प्रमुख कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों का भी। इसके साथ ही साथ उनके द्वारा आलोचना सम्बन्धी सिद्धांतों का तुलनात्मक विश्लेषण भी सम्पन्न हुआ है जो इनकी गूढ़ विवेचन-क्षमता को प्रकट कर जाता है। इनकी आलोचनात्मक कृतियाँ ही प्रमुख तथा महत्वपूर्ण है। वैसे इनकी शैली में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की झलक दिखाई देती है, फिर भी वह अपना वैशिष्ट्य लिए हुए भिन्न ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में जहां सिद्धांत-स्थापन का आग्रह तथा सामर्थ्य दिखाई देते हैं, वहाँ नन्ददुलारे वाजपेयी की कृतियों में भारतीय व विदेशी सिद्धांतों का तुलनात्मक ऊहापोह, गहन व्याख्या तथा अन्त में पुष्ट निष्कर्ष पाये जाते हैं। शैली का यही रूप उनकी उन कृतियों में दिखाई देता है जहाँ वे किसी कवि के व्यक्तित्व व कर्तृत्व की विवेचना करते हैं। एक बात और, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व में जो कवि व चित्रकार बैठा हुआ है वह उनके आलोचना क्रम में भी प्रसंग की रमणीयता से मुखर हो जग उठा है। नन्ददुलारे वाजपेयी की भावुकता की सीमा वहीं तक है जहाँ तक कि वे अपने विषय के द्रष्टा हैं, पर जब वे उसके परीक्षक हो जाते हैं वहाँ उनकी बौद्धिक-क्षमता ही विशेष सक्रिय हो उठती है और इसीलिए उनकी रचनाओं में एक क्रम है जो कहीं उलझता हुआ, टूटता हुआ दिखाई नहीं देता। नन्ददुलारे वाजपेयी को विवेचन में निगमनात्मक रूप ही विशेष प्रिय मालूम होता है। भाषा

में चित्त की ये पाँच अवस्थाएँ—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—सर्वत्र लेखक के व्यक्तित्व की छाप है, वह सहज, भावग्राहिणी, परिमार्जित तथा प्राञ्जल है, और अपनी एकरूपता में परिपुष्ट। उनका झुकाव संस्कृत की ओर अधिक है तथा गहन भाव प्रेषण के लिए उसमें अंग्रेजी शब्दों के, नये हिन्दी भाव-सूचकों के साथ, प्रयोग भी मिलते हैं। नन्द-दुलारे वाजपेयी में ऐसा ज्ञात पड़ता है जैसे बाबूजी तथा शुक्लजी का व्यक्तित्व परस्पर आलिंगन-बद्ध हो एक रूप हो गया है।

साहित्य का प्रयोजन क्या है ?—यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद रहा है और आज भी है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इस प्रश्न के निगूढ़ सत्य के उद्घाटन करने का प्रयत्न चल रहा है। भारतीय आचार्यों के भी मत हैं और भिन्न भिन्न, और पाश्चात्य विद्वानों के भी मत हैं और वे भी भिन्न-भिन्न—पर इस विभिन्नता में कुछ चिरंतन-सिद्ध सत्य-बिन्दु ऐसे हैं जो साहित्य के प्रयोजन को ध्वनित कर जाते हैं। यों बहुत लिखा गया है, किसी ने 'धर्म-अर्थ काम-मोक्ष' की बात कही है, किसी ने 'प्रीति-कीर्ति' की, किसी ने 'स्वान्तःसुखाय' की, किसी ने 'जन-हित' की और किसी ने 'कला कला के लिए' कह कर इस सम्बन्ध में सब विवाद को ही समाप्त कर देना चाहा है, पर फिर भी मानव-मस्तिष्क उस रहस्य को जान लेने के लिए सचेष्ट है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आत्माभिव्यक्ति' को ही साहित्य का प्रयोजन माना है। इस मत के पीछे पाश्चात्य जगत के उत्कट दार्शनिक क्रोचे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की ध्वनि अवश्य है, पर ऐसी ही ध्वनि भारतीय साहित्याचार्यों के निष्कर्षों में निकलती पाई जाती है। वाजपेयी जी ने नाना मत-मतान्तरों के विवाद-जाल में न पड़ कर एक सर्वमान्य व शाश्वत साहित्य प्रयोजन का ही पुष्टि-प्रेषण किया है।

टिप्पणियाँ—

निरपेक्ष—चाह—रहित, विरक्त, सापेक्ष—इच्छा अनुरक्त, परि-च्छिन्न—मर्यादित, विभक्त, भूमिकाएँ—रचनाएँ, पदार्थ के अनुसार,

मनोरस—एक मत, विचारों की समानता, अनुभूत—अनुभव किया हुआ, उपादान—ग्रहण, ज्ञान, प्रक्रिया—प्रकरण, युक्ति, एकात्म्य—एकाकार, एकरूपता, अन्वयार्थ—अन्वय से प्राप्त होनेवाला अर्थ, तादात्म्य—दो वस्तुओं का मिलकर एक रूप हो जाना, काठ कुट्य—अनुभूति से शून्य, कापुरुष, व्याघात—विघ्न, आघात, प्रकृत्या—प्रकृति, प्रसादगुण, समाहित—युक्त, समाया हुआ, उपपत्ति—संगति, हेतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय; गुणीभूत-व्यंग्य—काव्य का वह भेद जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार वाला न हो, चित्रकाव्य-मात्र—चित्र (छत्र, चमर आदि) के आकार में लिखित काव्य, सर्व संवेद्य—पूर्ण अनुभव जन्य, उत्सर्जन—त्याग, मुखर वर्णमयता—सुस्पष्ट चित्रोमयता।

कुछ उद्धरण—

यह तो कहना ही बाहुल्य है कि विशुद्ध साहित्य अप्रयोजनीय है, उसका जो रस है वह अहैतुक। मनुष्य उस दायित्व मुक्त वृहत् अवकाश के क्षेत्र में कल्पना की आड़ को लकड़ी-छुआई-हुई सामग्री को जाग्रत करके जानता है अपनी सत्ता को। उसके उस अनुभव में अर्थात् अपनी ही विशेष उपलब्धि में उसका आनन्द है। ऐसा आनन्द देने के सिवा साहित्य का और भी कोई उद्देश्य है, यह मैं नहीं जानता।'

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

'इसीलिए साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता, जिससे वह छीना झपटी, स्वार्थ-परता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है। और किसी जमाने में वाक्-विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा किन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिसमें मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास हो।'

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्यालोचना में उस पद्धति का भी महत्व है जिसे ऐतिहासिक कहते हैं। साहित्य की धारा तथा उसकी गति-विधि अविच्छिन्न होती है, उसमें निश्चय ही पूर्वापर सम्बन्ध रहता है। एक काल-विशेष उन विशिष्टताओं को गर्भस्थ किए रहता है तथा उनकी चेतना-शक्ति से प्रेरित होता रहता है जो गत-युग की अपनी श्रेष्ठ उपलब्धियाँ होती हैं, और वह स्वयं इस दान से समृद्ध होकर जो जो महत् जीवन-रूपों का सृजन करता है उन सबको भावी युग के चरणों में समर्पित कर उपकृत होता है। यह आदान-प्रदान की क्रिया बराबर चलती रहती है। इसीलिए साहित्य के समग्र अध्ययन के लिए हमें विगत युगों के दान-रूप साहित्य का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। भारत की ऐतिहासिक भूमि बड़ी हलचल पूर्ण रही है—यहाँ तक कि यह विकट तथा संहारक रूप धारण करती हुई भी दिखाई देती है और ऐसे भयंकर पक्षों में साहित्य तथा कला के क्षेत्र, जैसे अन्य जीवन-परक क्षेत्र रहे, विध्वंस के लक्ष्य बने हैं। विक्रमी संवत् की प्रथम शताब्दि में ही भारत-भूमि सुरक्षित नहीं रही है—मध्य-एशिया की जातियों के एक के बाद दूसरे दल-बादल उमड़ते हुए भारत के गगन-मण्डल पर छाते रहे हैं, विनाश का नाटक रचते रहे हैं। उत्तर-भारत तब ही से किसी न किसी दुर्विपाक का भोक्ता बना रहा है और इस कारण हमारे साहित्य तथा कला कृतियों के विनाश का इतिहास बड़ा पीड़क और करुण है। केवल एक प्रदेश ही, ऐसा था जो अपनी तलवार के पानी से इन विदेशी-आक्रान्ताओं का सार्थक सामना तथा भारतीय धर्म, संस्कृति, समाज, साहित्य-कलादि का संरक्षण करता रहा। मुगल-पठान-काल में भी इस राजस्थान प्रदेश का योग गौरवमय व महत्वपूर्ण है। हिन्दी भाषा आज स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा स्वीकार करली गई है—उस भाषा के आदि-मध्यकालीन साहित्य का, अधिकांश रूप में,

संरक्षण किसी प्रदेश ने किया है तो वह है राजस्थान। और इसके अतिरिक्त इस प्रदेश की जन-चेतना विपुल ऐश्वर्यमय तथा अनुपम साहित्य का प्रेरक-बिन्दु भी बनी। इस प्रदेश में हिन्दी की अनेक उप-भाषाओं का साहित्य विपुल मात्रा में रचा गया है जिसका अल्पांश ही प्रकाश में आ पाया है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि राजस्थान के स्थान स्थान पर ऐसे भण्डार मिलते हैं, जिनमें प्राचीन साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में सुरक्षित भरा पड़ा है। उस साहित्य को व्यवस्थित रूप में विभाजित करना, अध्ययन करना, एक ही कृति की प्राप्त अनेक प्रतियों के आधार पर शुद्ध रूप में रखना, उनके पाठों की समुचित व्याख्या करना, लेखक तथा रचना-काल निर्धारित करना, प्रस्तुत सामग्री के रूप-विन्यास तथा अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालना आदि काम भी अपने में महत्व रखते हैं। यह बुनियादी कार्य है। भग्नावशेषों के उत्खनन में जिस अमानवीय श्रम, अखण्ड निष्ठा, निर्भय और सतर्क गतिमयता और बौद्धिक औदार्य की आवश्यकता होती है, यह बुनियादी साहित्य-उत्खनन भी उन सब गुणों की माँग करता है। राजस्थान में इस महत् कार्य में संलग्न जो मनीषी दिखाई देते हैं उनमें एक हैं नरोत्तम-दास स्वामी।

नरोत्तमदास स्वामी भाषा-शास्त्री हैं, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्। भाषा-विज्ञान की ओर प्रबल रुचि ने उनकी आलोचक-क्षमता को एक ओर बाँधा है वहाँ दूसरी ओर उसे गहन भी कर दिया है। साहित्य के उत्खनन के महत्व का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है और स्वामी जी इस बुनियादी साहित्यान्वेषण में अपनी मौन व एकनिष्ठ साधनावृत्ति के साथ लगे हुए हैं तो उनमें वे सब विभूतियाँ पुंजीभूत हो गई हैं जो इस कर्म में वाछनीय हैं। राजस्थान-क्षेत्र की प्रचलित-अप्रचलित भाषा तथा बोलियों के रूप-वैचित्र्य तथा विशिष्टताओं तथा उनमें रचे गये प्राचीन अर्वाचीन साहित्य के भावविलास तथा रसायनों के परिपूर्ण ज्ञान

के धनी नरोत्तमदास स्वामी हैं। साथ ही, राजस्थानी लोक-साहित्य तथा कला के भी ये अध्येता हैं। वैसे उनके कर्म-व्यापार का क्षेत्र एक प्रदेश विशेष प्रतीत होता है, पर वह प्रदेश ही तो हिन्दी के विपुल-भंडार का सरक्षक है, अत यों उनकी कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। उन कृतियों के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य का एक सर्वांगीण इतिहास निर्माण होगा। स्वामी जी की शैली का गठन ऐतिहासिक आलोचना के अनुरूप ही है। भाषा सरल है, वाक्य-गठन बोधगम्य, जटिलता-रहित व व्याकरण-सम्मत तथा विषय प्रतिपादन क्रम-शृंखला-बद्ध और इस तरह प्रतिपाद्य वस्तु कहीं भी दुरूह नहीं हो पाती है। उनकी कृतियाँ कहीं कहीं भारयुक्त अवश्य हो गई हैं, पर यह भारीपन इस प्रकार की रचनाओं में आ ही जाता है और ऐसे स्थलों पर तो वस्तुत अधिक जहाँ अन्वेषक को विवश होकर लेखकों के नाम धाम तथा उनकी कृतियों का विवरण देना पड़ा है। वैसे भी स्वामीजी के कृतित्व में पाण्डित्य-सुलभ गाम्भीर्य और अन्वेषण्य तथ्यातथ्य निरूपणवृत्ति विशेष प्रमुख है और इस कारण भी बुद्धि के चेतन का प्रकाश ही उनकी कृतियों में प्रकट है, उनका तरल, मृदु, सरस भावलोक परिवेष्टित ही रह गया है।

'राजस्थानी साहित्य' में विद्वान लेखक ने राजस्थान के साहित्य-लोक पर एक विहगम दृष्टिपात किया है। राजस्थानी-साहित्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर सकेत कर उसका विशद विवरण, सुगमता के लिए, तीन कालो में विभक्त कर दिया है। इस लेख से उन लोगों की भ्रान्ति तो दूर हो सकती है जो हिन्दी के गुणगान तो गाते हैं पर राजस्थान की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। तथ्य यह है (और इसे जितनी जल्दी स्वीकार कर लिया जाता है उतना ही सब दृष्टि से हितकर ही है) कि राजस्थान में सरक्षित पर अप्रकाशित साहित्य के अनुसधान के बाद ही हिन्दी के विराट रूप का दर्शन हो सकता है। पर

विपुल साहित्य जब प्रकाश में आयेगा तो न केवल वह हिन्दी की विगत समृद्धि को प्रमाणित ही करेगा पर साथ ही भावी के लिये ज्योति-स्तम्भ-सा प्रेरक भी सिद्ध होगा।

टिप्पणियाँ—

'कलम के साथ तलवार का भी धनी'—राजाश्रय मे जो कवि अपनी लेखनी द्वारा रचना-कौशल मे सिद्ध-हस्त होते थे, वे समय आने पर युद्ध-भूमि मे अपनी तलवार से शत्रुओं का सिरच्छेद कर रण-कौशल का अद्भुत परिचय दिया करते थे; पोथियो—पुस्तको; जूझार—रण-भूमि मे शत्रुओ से डट कर युद्ध करते हुए वीरगति पाने वाले वीर; प्रचुर—प्रचुर, प्रसंगोपात—प्रसग से युक्त, चउपई—चौपाई, १६ मात्राओं का एक छन्द, प्रसृत—प्रसारित, विस्तीर्ण, विकृत—विरूप, भद्दा, परिगणित—गिना हुआ।

कुछ उद्धरण—

"भक्ति का साहित्य भारत के प्रत्येक प्रात मे पढने को मिल सकता है। हर एक प्रान्त के कवियो ने राधाकृष्ण के गीत अपने अपने ढंग से गाये हैं किन्तु राजस्थान ने अपने रक्त मे जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अनोखा है और यह अकारण नहीं है। राजपूतों को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने वाले चारण कवि रण भेरी के समक्ष जीवन की नश्वरता का दृश्य देखते और उसी समय गीत रचते जाते थे। कोई चाहे कि केवल कल्पना के बल पर आज वैसे साहित्य की सृष्टि कर ले तो यह सम्भव नहीं। राजस्थानी भाषा के गीत मे जो वीरता का तत्व भरा हुआ है, वह स्वाभाविक सच्चाई लिये हुए और कुदरती है। वह भारत के गौरव का विषय है।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

'राजस्थानी वीरों की भाषा है। राजस्थानी का साहित्य वीर-साहित्य है। संसार के साहित्य में उसका निराला स्थान है। वर्तमान काल के भारतीय नवयुवकों के लिये तो उसका अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए। इस प्राण-भरे साहित्य और उसकी भाषा के उद्धार का कार्य अत्यन्त आवश्यक है। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब हिन्दू-विश्व-विद्यालय में राजस्थानी का सर्वाङ्ग-पूर्ण विभाग स्थापित हो जायगा जिसमें राजस्थानी भाषा और साहित्य की खोज तथा अध्ययन-अध्यापन का पूर्ण प्रबन्ध होगा। यह साहित्य हमारे विश्व-विद्यालयों में क्यों नहीं पढ़ाया जाता ?'

—पं० मदनमोहन मालवीय